ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

एम.बी.ए पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम कोड : MBA - 001

प्रथम सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : MBA – 404

पाठ्यचर्या का शीर्षक : प्रबंधकीय अर्थशास्त्र

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड**	
	इकाई–1 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र	2–32
	इकाई–2 मांग विश्लेषण	33–78
	इकाई–3 उदासीनता वक्र विश्लेषण	79–86
2	**खंड**	
	इकाई–4 उत्पादन एवं लागत विश्लेषण	87–125
	इकाई–5 परिवर्तनशील अनुपात का नियम	126–187
3	**खंड**	
	इकाई–6 अल्पधिकार	188–221
4	**खंड**	
	इकाई–7 रोजगार	222–233
	इकाई–8 राष्ट्रीय आय एवं आय का मापन	234–246

खंड – 1

इकाई – 1 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र

1.0 शिक्षण उद्देश्य

1.1 परिचय

1.2 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र

1.3 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

1.4 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति

1.5 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

1.6 सीमांत

1.7 उपयोगिता विश्लेषण

अभ्यास प्रश्न

1.0 : शिक्षण उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद विद्यार्थी निम्नलिखित विषय में सक्षम हो जाएंगें।

- अर्थशास्त्र विषय के बारे में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करना।
- प्रबंधकीय स्वरूप में अर्थशास्त्र की उपयोगिता का वर्णन करना।

1.1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र

(Nature and Scope of Managerial Economics)

किसी भी तरह के व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संगठन में तरह तरह के निर्णय लिये जाते हैं। उस संगठन की सफलता उस निर्णय के सही होने पर निर्भर करती है। व्यासायिक निर्णय सही हो इसके लिये यह आवश्यक है कि निर्णय लेने से पूर्व सभी विकल्पो पर विचार करें। श्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करने के लिये अर्थशास्त्र, प्रबध विज्ञान तथा लेखाशास्त्र के सिद्धांतो का वृहद् ज्ञान होना आवश्यक है, जो केवल प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री मे ही हो सकता है। अतः सही निर्णय के लिये प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान युग में एक वाणिज्यिक तथा औद्योगिक संगठन की समस्याएँ पहले की तुलना में बहुत अधिक जटिल हो गई है। जहॉ पहले व्यवसायिक समस्याओं के समाधान तथा विश्लेषण में आर्थिक सिद्धांतों का उपयोग सीमित था,वहॉ वर्तमान में प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के माध्यम से नवीन धारणाएँ वैज्ञानिक विधियाँ,गणितीय पद्धतियों तथा संक्रिया विज्ञान का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र तथा व्यावसायिक अर्थशास्त्र दो शब्द है जिनका एक दूसरे के स्थान पर उपयोग किया जाता रहा है। हाल ही के वर्षों में प्रकन्धकीय अर्थशास्त्र की लोकप्रियता में बढोंतरी हुई है और व्यावसायिक अर्थशास्त्र का स्थान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ने ले लिया है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आधुनिक व्यवसायों के प्रभावपूर्ण एवं सुव्यवस्थित ढंग से प्रबंधन के लिए एक शक्तिशाली संयन्त्र बन गया है जिससे प्रबंधकों को सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को विभिन्न विद्वानो ने अलग–अलग रूप में समय–समय पर परिभाषित किया है। आधुनिक युग प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का स्वर्ण काल है क्योंकि एक व्यवसाय–प्रबंधक के लिए वर्तमान समय में अर्थशास्त्र का ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। परम्परागत अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक घटनाओं के केवल सैद्धान्तिक पहलू का ही विवेचन किया जाता है और ये सभी सिद्धांत अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होते है। अतः इन सिद्धांतो का प्रबंधक के लिए बहुत ही सीमित महत्व रह जाता जहै एक व्यवसाय–प्रबंधक का सम्बन्ध आर्थिक घटनाओं के व्यावहारिक पहलू से होता है और असके लिए वे ही घटनायें महन्वपूर्ण होती हैं जिनका सम्बन्ध उसकी फर्म के क्रियाकलापों से होता है। उसे ऐसे अर्थशास्त्र की जानकारी आवश्यक है जो कि व्यवसाय–जगत की

वास्तविकताओं पर आधारित हों तथा उसकी फर्म की आर्थिक समस्याओं के हल में सहायक सिद्ध हो। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ही इन आकांक्षाओं को पूरा करता है।

प्रबंधकीय अर्थशास्त्र का अर्थ व परिभाषा

(Meaning & Definitaion of Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को व्यावसायिक अर्थशास्त्र (Business Economics) अथवा फर्मों का अर्थशास्त्र (Economics for Firms) भी कहा जाता है। प्रबन्ध विज्ञान के विकास के साथ–साथ अब प्रबन्धकीय शब्द का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र उन आर्थिक सिद्धांतो, तर्को एवं प्राविधियों का अध्ययन है जिनका उपयोग व्यवसाय की व्यावहारिक समस्याओं के हल के लिए किया जाता है। अतः प्रबधकीय अर्थशास्त्र आर्थिक ज्ञान अथवा आर्थिक विज्ञान का वह भाग है जिसका व्यवसाय–जगत की समस्याओं के विश्लेषण में विवेकपूर्ण व्यावसायिक निर्णय लेने में उपयोग किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं।

1.प्रो.मेन्सफील्ड (Mansfield) के अनुसार ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध विवेकपूर्ण प्रबन्धकीय निर्णयों के बनाने की समस्याओं मे आर्थिक अवधारणाओं तथा आर्थिक विश्लेषण को लागू करने से है।''

2.प्रो.मैक नायर एवं प्रो.मैरियम के शब्दों मे,''व्यावसायिक अर्थशास्त्र में व्यावसायिक दशाओं के विश्लेषण के लिए विचार के आर्थिक तरीकों का प्रयोग सम्मिलित होता है।''

3. वामोल के आनुसार,'' प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र,अर्थशास्त्र की वह विशिष्ट शाखा है, जिसमें फर्म के आचरण का विश्लेषण आर्थिक धारणाओं के आधार पर कार्यात्मक अनुसंधान में प्रयुक्त विधियो की सहायता से किया जाता है जिसेसे सम्यक निर्णय लिया जा सके।''

4. जोएल डीन के अनुसार,''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का उददेश्य यह बताना है,कि व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में आर्थिक विश्लेषण का उपयोग कैसे हो सकता है।''

5. नारमन एफ. दद्वती के अनुसार,''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के उस भाग का समावेश होता है जिसे फर्म का सिद्धांत

6.हेन्स, मोट एवं पॉल के अनुसार,''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्णय लेने मे प्रयुक्त किया जाने वाला अर्थशास्त्र है। यह निरपेक्ष और प्रबन्धकीय व्यवहार के बीच खाई पाटने वाली अर्थशास्त्र की एक विशेष शाखा है।''

7.स्पेन्सर एवं सीगलमेन के अनुसार,''प्रबन्ध को निर्णय लेने और भावी नियोजन में सुविधा प्रदान करने के लिए आर्थिक सिद्धांत का व्यावसायिक व्यवहार के साथ एकीकरण ही व्यासायिक अर्थशास्त्र हैं।

8. एन.के.शर्मा तथा सी.एम.चौधरी के अनुसार,''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत व्यवसायिक संस्थाओ एवं भावी,नियोजन,निर्णयों के लिए आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों,सिद्धांतों व अवधारणाओं का व्यवहारिक उपयोग होता हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसमें आर्थिक सिद्धांतों का व्यवसाय–प्रबन्ध के साथ एकीकरण किया गया है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म मे संसाधन आवंटन समस्या (Resource allocation problem) पर ध्यान केन्द्रीत करता है। यह आर्थिक विश्लेषण के तरीकों एवं अस्त्रों का फर्म की समस्याओं के हल के लिए प्रयोग करता है जिससे कि अनुकुलतम हल निकाले जा सकें। यह फर्म में नियाजन प्रक्रिया तथा निर्णयन का अध्ययन करता है। इस प्रकार प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्मों के निर्णय कारकों,व्यश्टि अर्थशास्त्र सिद्धांतो तथा निर्णय विज्ञानों से विभिन्न प्राविधियों का सार है जिनकी सहायता से व्यावसायिक प्रबन्धक अपने व्यावसायिक–जगत की समस्याओं का समाधान खोजतें हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसकी अग्रलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती हैं–

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृती व्यश्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics) की जैसी होती हैं। इसके अन्तर्गत एक फर्म की समस्याओं का अध्ययन किया जाता हैं।

1. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र वर्णनात्मक (Descriptive) न होकर निर्धारक (Prescriptive) होती है। यह आर्थिक सिद्धांतों एवं व्यावसायिक व्यवहारों के बीच एक सेतु का कार्य

करता है। इसके अन्तर्गत नीति निर्धारण, निर्णयण तथा भावी नियोजन में आर्थिक सिद्धांतों तथा आर्थिक विश्लेषण के प्रयोग का अध्ययन किया जाता है।

2. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत 'फर्म के सिद्धांत (Threory of the firm) से सम्बन्धित अवधारणाओं और सिद्धांतों (Economic concepts and principles) का प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धांत के अन्तर्गत माँग एवं पूर्ति का विश्लेषण ,लागत एवं आगम का विश्लेषण ,साम्य उत्पादन–माला तथा कीमत का निर्धारण,लाभ अधिकतम करना आदि का अध्ययन किया जाता है। वितरण के लाभ सिद्धांत का अध्ययन भी किया जाता है।

3. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में समाविश्ट अर्थशास्त्र (Macro Economics) का प्रयोग किया जाता है। इसके अध्ययन से व्यवसाय प्रबन्धक को उस वातावरण की जानकारी प्राप्त होती है जिसके अन्तर्गत उसकी फर्म को कार्य करना पड़ता है। एक व्यक्तिगत फर्म सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली का एक सूक्ष्म रूप होती है। अतः प्रबन्धकीय को बाह्य तत्वों जैसे व्यापार चक्र, राष्ट्रीय आय लेखांकन,सरकार की विदेश व्यापार–निती,कर–निती,मूल्य नीति,श्रम नीति आदि के अनुरूप समायोजन करना होता है क्योंकि इन तत्वों पर उसका नियन्त्रण नहीं होता है लेकिन इनका व्यवसाय पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

4. **सेतु का कार्य** –हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि अर्थशास्त्र के सिद्धांतो व व्यवहार के मध्य अथाह समुद्र होता है,इस दूरी को पाटने के लिए सेतु की आवश्यकता पड़ती हैं,परन्तु इन सिद्धांतो का प्रबन्धकीय कार्यों मे किस तरह से उपयोग हो सकता है,इसका ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से होता है। इस सम्बन्ध में प्रो.जे. डीन के निम्न विचार महत्वपूर्ण हैं–

"The big gap between the problems of logic intrigue economic theories & the problems of policy that plague practical management needs to be bridged in order to give business executives access to the practical contrivbutions that economics that economic thinking can make to top management policies."

5. **सिद्धांतों के प्रयोग की विधि से अवगत कराना** – अर्थशास्त्र का ज्ञान केवल सिद्धांतो की जानकारी प्रदान करता है,इन सिंद्धांतों का प्रयोग किन परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाय इसकी श्रेष्ठ तकनीक के बारे में ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से ही हो सकता है। किन परिस्थितियों में एक फर्म को किस प्रकार अथवा किस विधि से निर्णय लेकर अपनी योजना प्रारंभ करनी चाहिए, यह ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है।

6. **निर्देशात्मक प्रकृति** – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यावहारिक पहलू प्रस्तुत करता हैं, अर्थात् निर्देशन प्रदान करता है न कि वर्णात्मक पहलू। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के द्वारा आर्थिक सिद्धांतो को किस प्रकार व्यावसायिक प्रतिष्ठान में लागू किया जाय इसका ज्ञान होता है। जैसे माँग का नियम यह बताता है कि किसी वस्तु के मूल्य में गिरावट आने से वस्तु की माँग बढ़ती हैं, एवं वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर उस वस्तु की माँग घटती है। अर्थशास्त्र इस बारे में कुछ भी जानकारी नहीं प्रदान करता है कि यह परिस्थिति अच्छी है या खराब,जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इस परिस्थिति के अच्छे अथवा बुरे परिणामों का विश्लेषण प्रस्तुत करके प्रबन्धकों के सामने प्रस्तुत करता है। व्यवहार में प्रबन्धकों को इस तरह का निर्देश मिलने पर ही,लाभकारी निर्णय लेने में सफलता मिलती है।

7. **अधिक व्यावहारिक उपयोगिता** – प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के सिध्दान्तो द्वारा व्यावसायिक समस्याओं का विश्लेषण करने से व्यवसाय के निर्णय और उसकी नीतियों का निर्धारण अधिक लाभकारी बन सकता है ,अतः प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक है.

8. **प्रगतिशील विषय**– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के सिद्धांत अन्य अर्थशास्त्र से उन्नत एवं प्रगतिशील विज्ञान है क्योकि प्रबन्धकीय निर्णय लेने एवं उन्हें व्यावसाय में लागू करने एवं समस्याओं को समझने आदि कार्यो में कई आधुनिक उपकरणों ,मॉडल्स ,बीजगणितीय सूत्रों ,कम्प्युटर आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया जाता है.

9. **नवीन विषय**– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र विषय का विकास मुख्यतः द्वितीय विश्व यद्ध के बाद हुआ है हमारे देश में तो आजादी के पश्चात इस विषय का प्रयोग बढ़ा है अतः यह विषय विकासशील तथा नवीन है , जो अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में है, अतः नये नये सिद्धांतो की खोज हो रही है।

प्रबन्धकीय अर्थाशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व

वर्तमान युग में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व को निम्न प्रकार समझा जा सकता हैः

1. **आर्थिक मामलो में सलाह**– आर्थिक मामलो में उपयोगी सलाह देकर यह प्रबन्धकों को भावी नियोजन व निर्णय मे सहायता प्रदान करता है.
2. **अनिश्चितताओं में कमी**– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र भविष्य की अनिश्चितताओं को कम करके जोखिम में कमी करता है यह व्यवसाय में सफल पूर्वानुमानों के द्वारा प्रबन्धकों को उचित निर्णय लेने में मदद करता है.
3. **विश्वसनीय पूर्वानुमान**– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र मूल्यो ,विक्रय ,पुंजी व माँग तालिकाओं का पूर्वानुमान करके भावी नियोजन के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करते है बाजार अनुसन्धान द्वारा उद्यत्पादन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा सकते है.
4. **मितव्ययितापूर्ण संचालन**– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म के विभिन्न क्षेत्रों मे अर्थिक विश्लेषण करके विभिन क्षेत्रों मे बचत को बढावा दे सकता है प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म की आंतरिक व बहारी परिस्थितियों का विश्लेषण करके उत्पादन व वितरण में सामंजस्य स्थापित कर, लागत में कमी करके भी मितव्ययिता को बढ़ा सकता है.
5. **फर्म की प्रतिस्पर्धात्मक शकित में वृद्धि** –फर्म के विश्वसनीय पूर्वानुमान, मितव्ययितापूर्ण संचालन व लागतों में कमी के द्वारा फर्म की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बढ जाती है यह फर्म अन्य फर्मों से किसी भी तथ्य के क्षेत्र सम्बन्ध में मुकाबला कर सकती है .
6. **लाभ अर्जन क्षमता में वृद्धि** – प्रबन्धकीय अर्थशासत्री किसी भी तथ्य व समस्या के सम्बन्ध में उपयोगी सलाह देकर फर्म की लाभ अर्जन शक्ति में वृद्धि कर सकता है इससे फर्म की स्थिति सुदृढ़ होती है .

7. **सरकारी नीतीयों का कियान्वयन –** आजकल व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म की नीतियों के अनुसार परिवर्तित करके या सरकार द्वारा अपने अनुसार नीतियॉ बनाकर फर्म की हस्तक्षेप से बचा सकता है।

8.**बाहर परिस्थितियों से तालमेल**–प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र द्वारा बाहरी परिस्थितियों से तालमेल रखने में सहायता मिलती है। इसके द्वारा फर्म अपनी नीतियों में मौद्रिकनिती,राजकोशीय नीति,मुल्य नीति आदि का प्रयोंग कर सकने में सफल होती है।

1.2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति

(Nature of Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए हमें देखना है कि यह विज्ञान है अथवा दोनों है। यदि विज्ञान है तो यह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान।

किसी भी विषय के सुव्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं जिसके अन्तर्गत कारण एवं परिणाम के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। विज्ञान वास्तविक एवं आदर्श दो प्रकार का होता है। वास्तविक विज्ञान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है अर्थात् क्या है? (What is?) का अध्ययन ही वास्तविक विज्ञान कहलाता है । इसके विपरीत आदर्श विज्ञान के अन्तर्गत आदर्श अर्थात् क्या होना चाहिए? (What ought to be?) का अध्ययन किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यावसायिक फर्म की आर्थिक कियाओं का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पहलूओं से अध्ययन किया जाता है। यह,यह दर्शाता है कि फर्म कि समस्याओं के हल करने में आर्थिक सिद्धांतो का प्रयोग किस प्रकार किया जाये।

वस्तुतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आदर्श अर्थशास्त्र का एक भाग है। यह वर्णात्मक के स्थान पर निर्देशात्मक प्रकृति का है।इसके अन्तर्गत 'क्या होना चाहिए?' का अध्ययन किया जाता है। इसमें केवल साधनों का अध्ययन ही नहीं किया जाता है,बल्कि साध्यों (Ends) के अध्ययन को भी

महत्वपूर्ण माना जाता है इसमें आर्थिक समस्याओं की सैद्धान्तिक विवेचना से अधिक महत्व इन सिद्धांतों की निर्णय लेने,नीति निर्धारण और भावी नियोजन में क्रियाशीलता को दिया जाता है।एक व्यवसाय प्रबन्धक का महत्वपूर्णकार्य भविष्य का पूर्वानुमान लगाकर फर्म को अधिकतम लाभप्रद बनाने के सम्बन्ध में निर्णय लेना होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का आदर्श विज्ञान है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कला भी है। कला का किसी कार्य को करने की सर्वोत्तम विधि से आशय होता है। प्रत्येक व्यावसायिक फर्म के साधन सीमित होते हैं तथा इनके वैकल्पिक उपयोग होते हैं। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की सहायता से प्रबन्धक साधन के वैकल्पिक प्रयोगों में सर्वश्रेष्ठ का चयन करता है तथा व्यावसायिक अनिश्चितता एवं अस्थिरता के वातावरण में प्रबन्धक द्वारा निर्णय लेने तथा भावी नियोजन की प्रक्रिया को सरल बनाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है और कला भी।

1.3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

(Scope of Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का नवीनतम विषय है। इस विषय के क्षेत्र के संबंध में विभिन्न लेखकों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान लेखक उत्पादन प्रबन्ध के रेखीय कार्यक्रम बनाना और संक्रिया अनुसंधान **(Linear Programming and Operations Research),** सामग्री प्रतिरूप **(Inventory Models),** खेलो का सिद्धान्त **(Theory of Games)** आदि को प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं तथा अन्य कुछ विद्वान इस मत से सहमत नही हैं फिर भी प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित करने में अधिकांश विद्वान सहमत हैं–

(1) फर्म का सिद्धांत (Theory of Firm) –इस सिद्धांत के अन्तर्गत फर्म का मॉडल,फर्म के उद्देश्य,फर्म का सिद्धांत तथा फर्म की कार्य–प्रणाली का अध्ययन किया जाता है।

(2) मॉग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान (Demand Analysis and Forecasting)– माँग विश्लेषण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है। अधिकांश प्रबन्धकीय निर्णय और व्यावसायिक नियोजन की कुशलता माँग के सही पूर्वानुमान पर निर्भर करती है। इसके अन्तर्गत माँग का नियम,माँग वक्र,माँग की लोच,माँग के निर्धारक तत्व,माँग के प्रकार तथा माँग के पूर्वानुमान की विवेचना की जाती है।

(3) लागत और उत्पादन विश्लेषण (Cost and Production Analysis) – प्रभावपूर्ण लाभ नियोजन,नियन्त्रण और सुदृढ़ प्रबन्धकीय व्यवहार के लिए लागत विश्लेषण आवश्यक है। लागत विश्लेषण से अनुमानित लागत में परिवर्तन लाने वाले तत्वों का पता लगता है। उत्पादन विश्लेषण उत्पादन की भौतिक इकाईयों में किया जाता है। इस भाग के अन्तर्गत लागत की अवधारणा **(Cost concept),** लागत वक्र,लागत और सीमान्त विश्लेषण ,लागत वर्गीकरण और लागत–उत्पादन सम्बन्ध,पैमाने की मितव्ययिताएँ और अमितव्ययिताएँ,उत्पादन प्रकार्य और रेखीय कार्यक्रम की विवेचना की जाती है।

(4) प्रतिस्पर्धा (competition) – विभिन्न प्रतियोगी दशाओं से एक व्यावसायिक फर्म के निर्णय प्रभावित होते हैं। इसके अन्तर्गत बाजार की विभिन्न प्रतियोगी दशाओं का अध्ययन किया जाता है।

(5) मूल्य प्रणालियॉ और नितीयॉ (Pricing Practices & Policies) – मूल्य निर्धारण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है। एक व्यावसायिक फर्म की सफलता उसकी सही मूल्य नीति पर निर्भर करती है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रतियोगी दशाओं में मूल्य निर्धारण व्यावसायिक फर्मों की मूल्य नीतियों,मूल्य निर्धारण की वैकल्पिक पद्धतियों,मूल्य विभेद नीति,उत्पादन–श्रेणी मूल्य निर्धारण और मूल्यों के पूर्वानुमान का अध्ययन किया जाता है।

(6) लाभ प्रबन्ध (Profit Management)– प्रत्येक व्यवसाय का दीर्घकालीन उद्देश्य लाभ कमाना होता है। प्रत्येक व्यवसाय की सफलता उसके लाभों से ऑकी जाती है। लाभ कुल लागतों एव कुल आगमों का अन्तर होता है। इनमें अनिश्चितता पायी जाती है। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत लाभों को प्रभावित करने वाले सभी आन्तरिक और बाह्य तत्वों पर विचार करके इनकी सही भविष्यवाणी करने के प्रयत्न किये जाते है। इसके अन्तर्गत लाभ की प्रकृति और उसकी माप,समुचित

लाभ–नीति का चुनाव,लाभ–नियोजन और लाभ नियन्त्रण की प्रविधियों जैसे सन्तुलन स्तर विश्लेषण तथा लागत नियन्त्रण का अध्ययन किया जाता है।

(7) पूँजी बजटन (Capital Budgeting)– पूँजी बजटन पूँजीगत व्ययों के नियोजन और उन पर समूचित नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है। पूंजी विनियोगों के लिए धन की आवश्यकता होती है,इनसे विनियोजित पूँजी को सरलता से वापिस नहीं लिया जा सकता है और ये व्यवसाय के लाभों को एक लम्बी अवधि तक प्रभावित करते हैं। अतः इनमें जोखिम एवं अनिश्चितता अधिक पायी जाती है। इसके अन्तर्गत मुख्यतया पूँजी की लागत,प्रत्याय दरों की गणना और परियोजनाओं का चुनाव आदि पहलुओं का अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का विषय माँग ,लागत,मूल्य,लाभ और पूँजी के सम्बन्ध में अनिश्चितताओं पर आर्थिक सिद्धांतों और अवधारणाओं का अध्ययन करना है।

व्यवसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के उपयोग के पहलू

मैसर्स स्पेन्सर और सीगिलमैन के मतानुसार व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के उपयोग के निम्न पहलू होते हैं –

(1) परम्परागत सैद्धांतिक धारणाओं का समाधान प्रस्तुत करना (Reconciling Traditional Theoretical Concepts)– इस पहलू के अन्तर्गत परम्परागत सैद्धान्तिक धारणाओं एवं वास्तविक व्यावसायिक आचरणों और परिस्थितियों के बीच समाधान प्रस्तुत किया जाता है। प्रायःव्यवसाय कुछ मान्यताओं पर आधारित है और उन्ही के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते है। लेकिन इन मान्यताओं के कारण फर्म का सिद्धांत अवास्तविक बन जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की होती है कि सरल मान्यताओं पर आधारित आर्थिक सिद्धान्तों का वास्तविक व्यावसायिक स्थिती के साथ समाधान प्रस्तुत किया जा सके। यदि आर्थिक सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन करने की आवश्यकता होती है तो संशोधन करने की आवश्यकता होती है तो संशोधन भी किया जा सकता है। प्रायः व्यवसाय के विषय में यह अवधारणा रहती है कि इनका उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना होता है जबकि व्यवहार में, व्यवसाय का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना नहीं होता। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अर्न्गत लेखाशास्त्रीय

धारणाओं**(Accounting Concepts)** का अर्थशास्त्रीय धारणाओं **(Economic Concepts)**-के बीच समाधान स्थापित करने की ओर प्रयत्न किया जाता है।

(2) आर्थिक मात्राओं की भविष्यवाणी (Predicting Economic Quantities)– प्रत्येक प्रबन्धक को अपनो कार्य अनिश्चितता के वातावरण में करना पड़ता है। वह लाभ,माँग ,लागत,पूँजी,मूल्य,उत्पादन आदि के ऑकड़ो के आधार पर भविष्य के पूर्वानुमान लगाता है।इसके आधार पर भावी नियोजन तथा निर्णयन सम्बन्धी कार्य सम्भव होते है।

(3) आर्थिक सम्बन्धों का अनुमान (Ectimating Economic Relationships)– आर्थिक सम्बन्धों के अनुमानों का उपयोंग पूर्वानुमान के लिए किया जाता है जो कि आय लोच,लागत,उत्पादन सम्बन्ध,मूल्यलोच आदि के द्वारा सम्भव हो सकता है।

(4) बाह्म शक्तियों को समझना (Understanding External Forces)– प्रबन्धक को इन बाहरी शक्तियों,जैसे राष्ट्रीय आय मे परिवर्तन,लाइसेंसिंग नीति,कर नीति,मूल्य नियन्त्रण नीति आदि को समझना आवश्यक होता है, क्योंकि प्रबन्धक को इन परिस्थितियों में व्यवसाय का समायोजन करना पड़ता है।

(5) व्यापारिक नीतियों का निर्धारण (Formation of Business Policies)– प्रबन्धक को निर्णय कार्य एवं नियोजन में व्यापारिक नीतियों को निर्धारित करना पड़ता है और उन्ही के आधार पर वह लाभ,पूँजी,लागत एवं मूल्य सम्बन्धी योजनायें बनाता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं परम्परागत अर्थशास्त्र में अन्तर
(Difference between Managerial Economics and Traditional Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र की ही एक विशिष्ट शाखा है, किंतु फिर भी यह परम्परागत अर्थशास्त्र से अनेक दृष्टिकोणों से भिन्न है। इस अन्तर को निम्न तरह से स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) परम्परागत अर्थशास्त्र एक व्यापक विषय है, प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र की एक शाखा मात्र है, अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र सीमित है।

(2) परम्परागत अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धांतों का केवल विवेचन किया जाता है,जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तों का व्यावसायिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग किया जाता है। इस तरह से परम्परागत अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यावहारिक है।

(3) परम्परागत अर्थशास्त्र में माँग व पूर्ति का विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में माँग व पूर्ति का विश्लेषण केवल एक फर्म अथवा संगठन के सम्बन्ध में होता है,

(4) परम्परागत अर्थशास्त्र एक पुराना विषय है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक नवीन विषय है।

(5) परम्परागत अर्थशास्त्र की मान्यताएँ काल्पनिक होती हैं, जबकि प्रबन्धकीय अर्थव्यवस्था की मान्यताएँ व्यावहारिक होती है।

(6) परम्परगत अर्थशास्त्र में लगान,ब्याज,राष्ट्रीय आय तथा व्यापार चक्र का अध्ययन किया जाता है,जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इनका अध्ययन नहीं किया जाता है।

(7) परम्परागत अर्थशास्त्र में व्यक्ति,समाज,फर्म तथा राष्ट्र केवल फर्म की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

(8) परम्परागत अर्थशास्त्र में व्यश्टि व समश्टि अर्थशास्त्र दोनों का अध्ययन किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र मे केवल व्यश्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाता है तथा समश्टि अर्थशास्त्र के उस भाग का ही अध्ययन किया जाता है जो फर्म को प्रभावित करता है।

(9) परम्परागत अर्थशास्त्र वर्णनात्मक **(descriptive)** विषय से अधिक सम्बन्धित है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्देशात्मक **(preccriptive)** विषय अधिक होता है।

(10) परम्परागत अर्थशास्त्र में सिद्धान्तों का केवल विश्लेषण किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र मे आर्थिक सिद्धांतों के विश्लेषण के साथ–साथ,उनका फर्म की समस्याओं के समाधान,फर्म के नियोजन एवं निर्णयन में प्रयोग किया जाता है।

(11) परम्परागत अर्थशास्त्र में वितरण के सभी सिद्धान्त यथा लगान,मजदूरी,ब्याज एवं लाभ का अध्ययन होता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में वितरण के केवल एक सिद्धान्त यथा लाभ का अध्ययन किया जाता है।

आर्थिक सिद्धान्त दो या दो से अधिक आर्थिक चरों **(Economic variables)** के फलनात्मक सम्बन्ध व्यक्त करते हैं जो कुछ दी हुई शर्तों पर आधारित होते हैं। व्यवसाय की समस्याओं में व्यावसायिक निर्णयन में सम्बन्धित आर्थिक सिद्धान्तों का उपयोग तीन तरीकों से सहायता करते हैं–

(1) इन सिद्धान्तों से विभिन्न आर्थिक अवधारणायें (लागत,कीमत,माँग आदि) जिनका व्यावसायिक विश्लेषण में उपयोग किया जाता है, स्पष्ट की जाती है।

(2) यह सम्बन्धित चरों को निश्चित करती है तथा सम्बन्धित आँकड़ों को विशिष्टता प्रदान करने हैं।

(3) दो या अधिक आर्थिक चरों के बीच सम्बन्ध का अध्ययन सही निर्णय लेने में स्थिरता प्रदान करते हैं।

इस प्रकार आर्थिक सिद्धान्तों के उपयोग से व्यावसायिक समस्याओं में मार्गदर्शन ही प्राप्त नहीं होता है बल्कि निर्णयन प्रक्रिया मजबूत एवं सही बनती है जिससे सही निर्णयन सम्भव होते है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक ऐसा नवीन विकासशील विषय है जिसको पूर्णता प्रदान करने के लिए अनेक विषयों का सहयोग लिया जाता है, जिससे विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों को फर्म के व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त किया जा सके। ये विषय व्यश्टि,अर्थशास्त्र,समश्टि अर्थशास्त्र,गणित,सांख्यिकी,संक्रिया विज्ञान,लेखाशास्त्र,प्रबन्ध शास्त्र आदि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से जो सम्बन्ध है उसे निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

(1) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं व्यश्टि अर्थशास्त्र में आपसी सम्बन्ध – व्यश्टि अर्थशास्त्र ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का मुख्य आधार है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में मूल्य सिद्धान्त एवं फर्म के सिद्धान्त ही अध्ययन का विषय है जो कि व्यश्टि अर्थशास्त्र के निम्न अध्ययन प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में कुछ आवश्यक समायोजनों के पश्चात् किया जाता है–

(a) माँग का नियम

(b)माँग की लोच

(c) सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत

(d)माँग एवं लागत विश्लेषण

(e)उत्पादन की मात्रा एवं मूल्य निर्धारण से सम्बधित सिद्धान्त

(f) बाजार के विभिन्न रूप

(g)तटस्थता वक्र विश्लेषण

(h)उत्पादन मॉडल

(i) माँग का पूर्वानुमान।

(2) **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं समश्टि अर्थशास्त्र में सम्बन्ध** – समश्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग फर्म पर बाह्य परिस्थितियों के पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण ,अध्ययन एवं समायोजन करने में उपयोगी सिद्ध होता है। समश्टि अर्थशास्त्र के निम्न घटकों का प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यापक प्रयोग किया जाता है–

(a) व्यापार चक्र

(b)मौद्रिक नीति

(c) कर नीति

(d)प्रशुल्क नीति

(e)रोजगार नीति

(f) उपभोग एवं विनियोग के सिद्धान्त

(g)राष्ट्रीय आय

(h)आयात–निर्यात नीति

(i) लाइसेंसिंग नीति।

(3) **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त से सम्बन्ध** – वर्तमान युग में सरकार फर्म के क्रियाकलापों को बहुत अधिक प्रभावित करती है और यह हस्तक्षेप दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा

है। सरकारी हस्तक्षेप का फर्म पर प्रतिकूल असर नहीं पड़े,इसके लिए प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में सार्वजनिक वित्त के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। ये सार्वजनिक वित्त के सिद्धान्त अग्र हैं–

a) सरकारी कर नीति
b) सरकारी मूल्य नियन्त्रण नीति
c) सरकारी औद्योगिक, व्यापारिक तथा वाणिज्यिक नीति
d) बैंकिंग नीति
e) न्यूनतम मजदूरी नीति
f) प्रशुल्क नीति।

(4) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं गणित – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के निष्कर्षों को अधिक शुद्ध बनाने में गणित का प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। गणित के सिद्धान्तों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र,आर्थिक सम्बन्धों को अधिक शुद्धता से माप सकता है एवं पूर्वानुमान अधिक शुद्ध हो सकते है, नियोजन सत्यता के अधिक निकट होगा तथा निर्णय सही होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। माँग पूर्वानुमान,आदान–प्रदान विश्लेषण ,उत्पादन फलन क्षेत्रों में गणित का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

(5) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र सांख्यिकी–सांख्यिकी का प्रयोग प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में बढ़ता जा रहा है। सांख्यिकी का सम्भाव्यता सिद्धान्त,महांक जड़ता नियम, सह–सम्बन्ध,प्रतीपगमन आदि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में बहुत अधिक प्रयोग में लिये जाते है। सांख्यिकी के सिद्धांतों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के निर्णय अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी होते है। सांख्यिकी विधियों की सहायता से लगाये गये पूर्वानुमान अधिक शुद्ध होते हैं।

(6) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं संक्रिया विज्ञान– प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में निर्णय लेते समय संक्रिया विज्ञान का प्रयोग दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में फर्म के अनुकुलतम आकार का निर्धारण,साधनों के चयन की समस्या,वैकल्पिक उत्पादन विधियों,लागत न्यूनीकरण एवं लाभ अधिकतम करने के लिए निम्न संक्रिया विज्ञान की तकनीकों का प्रयोग किया जाता है–

(a) खेल सिद्धान्त

(b) इन्वेन्टरी मॉडल्स

(c) उत्पादन फलन

(d) कतार सिद्धान्त

(e) रेखीय प्रोग्रामिंग।

(7) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं लेखाशास्त्र – लेखाशास्त्र के द्वारा ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को फर्म के विभिन्न क्रियाकलापों की संख्यात्मक जानकारी मिलती है, जिसको यह नियोजन,निर्णय तथा नियन्त्रण के लिए प्रयुक्त करता है। लेखाशास्त्र के माध्यम से ही उसे फर्म के विक्रय,माँग ,पूर्ति उत्पादन तथा लागत के समंक उपलब्ध होते हैं।

(8) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं लागत लेखांकन – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में लागत लेखों का बहुत अधिक प्रयोग होता है। लागत लेखों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र लागतों का विश्लेषण कर उसको न्यूनतम रखने का प्रयास करता है।

(9) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं प्रबन्ध – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र प्रबन्धक के प्रयोग के लिए ही होता है,अतः प्रबंध के विभिन्न सिद्धान्तो का प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यापक प्रयोग किया जाता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री(Role Managerial Economics in Business) सर्वोच्च प्रबन्ध द्वारा आर्थिक लागतों में सलाह–मशविरा करने हेतु एक विशिष्ट अधिकारी नियुक्त किया जाता है,जिसे प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कहा जाता है। इसके द्वारा सही निर्णय लेने और भावी नियोजन की कठिन समस्याओं के हल करने हेतु प्रबन्ध को पर्याप्त सहायता दी जाती है। इसी कारण से विगत वर्शों में प्रबन्ध के क्षेत्र में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्रीयों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। बड़ी–बड़ी व्यापारिक फर्मों,औद्योगिक संस्थानों,बैंकों,बीमा कम्पनियों आदि में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री नियुक्त किये जा रहे हैं। देश में प्रबन्ध–विज्ञान के विकास एवं विस्तार के साथ–साथ इन अधिकारियों का महत्व भी धीरे–धीरे बढ़ता जा रहा है।

व्यवसाय में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की भूमिका

(Role of Managerial Economist in Business)

भविष्य अनिश्चित होता है तथा व्यवसाय भी अनिश्चितता पर आधारित होता है। एक कुशल एवं योग्य प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का यह दायित्व है कि वह इन अनिश्चितताओं का पूर्वानुमान लगाकर प्रबन्ध को सही निर्णय लेने एवं भावी नियोजन में सहायता करे। एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए प्रबन्धकीय निर्णयों को प्रभावित करने वाले तत्वों को निश्चित करना होता है। इल तत्वों को प्रमुखतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–आन्तरिक तत्व तथा बाह्य तत्व।

आन्तरिक तत्व (Internal Factors) –आन्तरिक तत्व वे तत्व होते है जिनका सम्बन्ध फर्म के कार्य–क्षेत्र से होता है और जिन पर प्रबन्ध का नियंत्रण,स्कन्ध नीति का निर्धारण,व्यापार विस्तार या संकुचन के सम्बन्ध में निर्णय आदि। इन सभी महत्वपूर्ण मामलों में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है और प्रबन्धकीय निर्णयों में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को सामान्यतया निम्नलिखित विषयों पर प्रबन्ध को अपनी राय देनी चाहिए–

(a) आगामी वर्ष के लिए उपयुक्त विक्रय और लाभ बजट क्या हों?

(b) आगामी अवधि के लिए उपयुक्त और क्रय बजट क्या हों?

(c) आगामी अवधि में मजदूरी और मूल्य नीति में क्या परिवर्तन किये जायें?

(d) आगामी अवधिक में रोकड़की स्थिति कैसी हैं? इस सम्बन्ध में उसे फालतू धन के विनियोजन तथा कमी के लिए पर्याप्त साधन जुटाने हेतु सुझाव देने चाहिए।

(e) व्यवसाय की साख नीति में क्या परिवर्तन वांछनीय हैं?

2. बाह्य तत्व ;म्गजमतदंस थ्ंबजवतेद्ध– इन तत्वों का सम्बन्ध फर्म के कार्य–क्षेत्र की सीमा से बाहर होता है और यह तत्व प्रबन्ध के नियन्त्रण से बाहर होते हैं। प्रत्येक व्यवसाय इन बाह्य तत्वों में राश्ट्रिय आय,राष्ट्रिय उत्पादन,व्यापार की मात्रा,मुद्रा,प्रसार और मुद्रा संकुचन,श्रम अधिनियम आदि प्रमुख हैं। अतः इन तत्वों का समुचित विश्लेषण और भविष्यवाणी व्यवसाय के लिए बहुत महत्वपूर्ण

होती है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को इन तत्वों का निरन्तर अध्ययन और विश्लेषण करते रहना चाहिए और अपने व्यवसाय को प्रभावित करने वाले तत्वों से सर्वोच्च स्तरीय प्रबन्ध (Top Level Management)- को अवगत कराना चाहिए। इस सम्बन्ध में उसे प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(a) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थिति की जानकारी प्राप्त करना। स्थानीय,क्षेत्रीय या विश्वव्यापी महत्वपूर्ण आर्थिक प्रवृत्तियाँ क्या हैं और निकट भविष्य में व्यवसाय चक्र की क्या गति होगी?

(b) नये एवं पुराने बाजारों में माँग की सम्भावनाओं का पता लगाना।

(c) बाजार और ग्राहकों के अवसारों में तेजी से परिवर्तन की सम्भावनाओं हैं? इसके ज्ञान से प्रबन्ध नये बाजार या नये ग्राहकों में अपनी वस्तुओं की माँग बढ़ाने के प्रयत्न कर सकता है।

(d) भविष्य में साख की उपलब्धता और लागत में परिवर्तन की सम्भावनाओं का पता लगाना।

(e) भविष्य में कच्चे माल की उपलब्धता और मूल्यों में परिवर्तन की सम्भावना का पता लगाना।

(f) फर्म के उत्पादित माल का मूल्य भविष्य में बढ़ेगा अथवा घटेगा, की सम्भावना का पता लगाना।

(g) भविष्य में प्रतियोगिता के बढ़ने या घटने की सम्भावना का पता लगाना।

(h) सरकार की आर्थिक नीतियों और नियन्त्रणों जैसे,कर नीति मूल्य नीति, श्रम नीति,एकाधिकार पर नियन्त्रण आदि में परिवर्तन की सम्भावनाओं का पता लगाना।

इस प्रकार प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को इन आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों का गहनता से अध्ययन करना चाहिए तथा इनके सम्बन्ध में सर्वोच्च प्रबन्ध को अपनी राय बतानी चाहिए।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का उत्तरदायित्व

(Responsibilities of a Managerial Economist)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रबन्ध को निर्णय लेने तथा भावी नियोजन में सहायता प्रदान करता हैं। उसकी सफलता इस बात में निहित है कि वह अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह संस्थान के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु करता रहे। उसके निम्नलिखित उत्तरदायित्व हैं–

1.विनियोजित पूँजी पर समुचित लाभ (To make a Reasonable Profit on Capital empolyed) – प्रत्येक व्यवसाय का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का यह उत्तरदायित्व है कि वह सस्थान के लाभों में वृद्धि करने में कहॉ तक सफल होता है। यदि वह फर्म अथवा संस्थान को समुचित लाभ दिलाने में असमर्थ रहता है तो उसके शैक्षणिक प्रशिक्षण,अनुभव व व्यवसाय कुशलता का महत्व घट जाता है। अतः उसका यह एक महत्वपूर्ण दायित्व है कि फर्म की लार्भाजन शक्ति में निरंतर वृद्धि करे।

2.सफल पूर्वानुमान (Successful Forecasts) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की कुशलता उसके पूर्वानुमानों की शुद्धता पर निर्भर करती हैं। भविष्य अनिश्चित होने के कारण व्यवसाय में जोखिम बढ़ने की सम्भावना उत्पन्न होती है। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का यह दायित्व हो जाता है कि वह सर्वोच्च प्रबन्ध को अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में सही पूर्वानुमान प्रस्तुत करे जिससे व्यवसाय की अनिश्चितताओं को दूर करके जोखिम को दूर किया जा सके। उसे अपने पूर्वानुमानों को शुद्धतम बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। इससे ही वह प्रबन्ध का विश्वास और प्रसिद्ध का विश्वास और प्रसिद्ध प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को व्यवसाय प्रवृत्ति और व्यापार चक्रों पर ध्यान देना चाहिए और व्यवसाय की विभिन्न क्रियाओं के सम्बन्ध में सम्भावित परावर्तन बिन्दओं से प्रबन्ध को सजग करना चाहिए।

यदि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को अपने पूर्वानुमानों में किसी भी प्रकार की अशुद्धि या त्रुटि का पता चल जाता है तो इसकी सुचना तुरन्त सर्वोच्च प्रबन्धक को दी जानी चाहिए जिससे कि प्रबन्ध अपनी भावी नीतियों एवं कार्यक्रमों में समुचित समायोजन कर सके।

3. आर्थिक सूचना के स्त्रोतों एवं विशेषज्ञों से सम्पर्क (Contacts with the Sources of Economic Information and the Experts) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को ऐसे व्यक्तियों और संस्थाओं से अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिए जहॉ से उसे अपनी फर्म को प्रभावित करने वाली आर्थिक सूचनायें तुरन्त मिलती रहें। इसके साथ ही उसे अपने विषय के विशेष ज्ञों से परिचय और उनके बारे में पूर्ण जानकारी रखनी चाहिए। प्रबन्ध के लिए प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का महत्व है कि वह सम्बन्धित सूचनायें एकत्रित करके उनसे अवगत करावे।

3. संस्थान में उसका स्थान (His status in the organisation) – एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को फर्म में अपना उपयुक्त स्थान स्थापित करना चाहिए। वह अपना कार्य तभी प्रभावपूर्ण ढंग से कर सकता है जब प्रबन्ध को उसके ज्ञान एवं साधनों की आवश्यकता हो। उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस सीमा तक प्रबन्ध को प्रभावित करता है। उसे प्रबन्ध को सरल एवं बोधगम्य भाषा से संदेशवहन करना चाहिए जिससे कि वे एक–दूसरे के अधिक निकट आ सकें। यदि प्रबन्ध द्वारा उसकी बात अस्वीकृत कर दी जाती है तो उसका महत्व निरन्तर घटने लगता है।

प्रश्न

1.प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिये। निर्णय–प्रक्रिया में और इसका महत्व लिखिये।

Define Managerial Economics.Explain the importance of Managerial Economics in the Process of decision making.

2ण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिये। यह परम्परागत अर्थशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है?

Discuss the nature and scope of Managerial Economics.How does it differ from traditional Economics ?

3. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विशेष ताएँ बताइए।

Define Managerial Economics and discuss its characteristics.

4. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

What do you mean about Managerial Economics? Discuss nature and scope of Managerial Economics.

5. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति,विषय सामग्री एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

Discuss nature, subject matter and scope of Managerial Economics.

6. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध स्पष्टकीजिए।

Make clear relation between Managerial Economics and other subjects.

7. निर्णयन में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति की जॉच कीजिए एवं प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के उत्तरदायित्वों की व्याख्या कीजिए।

Examine the nature of Managerial Economics in decision-making. Discuss the responsibilities of Managerial Economicst.

8. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का उद्देश्य यह बताना है कि व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में आर्थिक विश्लेषण का उपयोग कैसे हो सकता है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए और प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के दोष को समझाइए।

"The purpse of Managerial Economics is to show how economic analysis can be used in formulating business policies." Descuss and explain clearly the scooe of Managerial Economics.

9. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के उत्तरदायित्वों की व्याख्या कीजिए।

Discuss the responsibilities of Managerial Economicst.

10.परम्परागत अर्थशास्त्र तथा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में अन्तर है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का ज्ञान की अन्य शाखाओं से किस प्रकार सम्बन्धित हैं?

What is the difference between Traditional Economics and Managerial Economics? How Managerial Economics is related to the other branches of knowledge?

11.एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के महत्व एवं उत्तरदायित्वों का उल्लेख कीजिए।

State the role and responsibilities of a Managerial Economicst.

12. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की भूमिका एवं जिम्मेदारी का विवेचन कीजिए। उपयुक्त उदाहरण दीजिए।

Explain the role and responsibilities of a Managerial Economicst. Give suitable illustrations.

13. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की भूमिका को स्पश्टतः समझाइए तथा उत्तरदायित्वों का उल्लेख कीजिए।

Explain clearly the role of a Managerial Economicst and narrate his responsibilities.

14. '' निर्णयन की सुविधा के उद्देश्य से आर्थिक सिद्धांतों और व्यावसायिक व्यवहारों का समन्वय ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र है।'' समझाइए।

"Managerial Economics is the integration of economic theory with business practice for the purpose of facilitating decision-making." Explain.

उपभोक्ता व्यवहार का सिद्धान्त

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. मार्शल ने प्रतिश्ठित अर्थशास्त्रियों तथा गणित विशेषज्ञ प्रो. के जेवन्स व वालरस द्वारा प्रतिपादित आर्थिक विचारों के आधार पर सीमान्त उपयोगिता पर आधारित,उपभोक्ता व्यवहार सिद्धान्त का विकास किया। प्रो.मार्शल के अनुसार किसी वस्तु या सेवा में आवश्यकता को सन्तुश्ट करने की शक्ति अथवा क्षमता को ही उपयोगिता कहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की रोटी खाने से भूख शान्त होती है तो हम कह सकते हैं कि रोटी में भूख शांत करने की जो क्षमता है, वही उसकी उपयोगिता भी है। प्रो.मार्शल के अनुसार उपयोगिता की निम्न विशेषताएँ होती हैंः

(1) उपयोगिता का सदैव लाभदायक अथवा कल्याणकारी होना जरूरी नहीं है–उपयोगिता का सम्बन्ध हमेशा लाभदायक हो यह आवश्यक नहीं हैं,जैसे शराब,सिगरेट,अफीम आदि के उपभोग में उपयोगिता तो प्राप्त होती है क्योंकि इनके उपयोग से उपभोक्ता को सन्तुष्टिमिलती है,परन्तु इनसे लाभदायकता के स्थान पर स्वास्थ्य की हानि होती है। अतः अर्थशास्त्र में उपयोगिता का लाभदायकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(2) उपयोगिता व्यक्तिगत होती है–उपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है क्योंकि एक वस्तु एक व्यक्ति के लिए उपयोगी तथा दुसरे व्यक्ति के लिए अनुपयोगी हो सकती है।

(3) उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करती है–व्यक्ति को भुख लगने पर रोटी उसके लिए उपयोगी तथा दूसरे व्यक्ति के लिए अनुपयोगी हो सकती है।

(4)उपयोगिता एक सापेक्षिक शब्द है–यह व्यक्ति,समय तथा स्थान के साथ बदलती रहती है। एक वस्तु एक व्यक्ति विशेष के लिए, एक समय में उपयोगी हो सकती है तथा दुसरे समय में अनुपयोगी। जैसे गर्मी में बर्फ उपयोगी होती है परन्तु सर्दी में नहीं। शराब एक शराबी के लिए उपयोगी है परन्तु शराब नहीं पीने वालों के लिए यह अनुपयोगि है।

(5)उपयोगिता व सन्तुष्टिमें अन्तर है– उपयोगिता का अर्थ प्रत्याशित उपयोगिता (expected utility) से होता है। अपभोक्ता उपयोगिता के बारे में उस समय विचार करता है जब वही किसी वस्तु को खरीदने की सोचता है। अतः उपयोगिता वास्तविक उपभोग पर निर्भर नहीं करती।इसके विपरीत सन्तुष्टिसे अभिप्राय किसी वस्तु के प्रयोग से प्राप्त उपयोगिता से है।

(6)उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है–इसे केवल अनुभव किया जा सकता उपयोगिता को स्पर्श करके या आखों से देखा नहीं जा सकता। यह धारणा व्यक्ति की आन्तरिक भावना से सम्बन्ध रखती है। इसका कोई भौतिक रूप नहीं होता है।

गणनावाचक दृष्टिकोण (Cardinal Approach)

यद्यपि उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है परन्तु मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपयोगिता को मोटे रूप से मुद्रारूपी पैमाने द्वारा मापा जा सकता है। एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए उपयोगिता के हिसाब से कीमत चुकाता है। यदि उपयोगिता अधिक होती है तो कीमत अधिक चुकाई जाती है। इसी प्रकार उपयोगिता कम होने पर कम कीमत चुकाई जाती है। स्पष्टशब्दों में,किसी वस्तु के लिए दी जाने वाली कीमत उस वस्तु की उपयोगिता का माप है। उदाहरणार्थ,एक व्यक्ति एक फाउण्टेन पैन के लिए 8 रूप्ये देने को तैयार तो उसके लिए पैन की उपयोगिता 8 रूपये के बराबर होगी। पैन के सम्बन्ध में यह 8 ही उपयोगिता की माप है।

इस प्रकार उपयोगिता मापनीय है। यहॉ उपयोगिता के लिए विभिन्न प्रकार की संख्यायें (1,2,3,4 इत्यादि) प्रदान कर दी जाती हैं। इस संख्याओं को गणनावाचक संख्याएॅ कहते हैं। इस संख्याओं को जोड़ा व घटाया जा सकता है। जैसे किसी वस्तु की पहली इकाई से 6 के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है,दूसरी इकाई से 4 के बराबर व तीसरी इकाई से 2 के बराबर उपयोगिता मिलती है, तो इस प्रकार वस्तु की तीनों इकाईयों से कुल 12 इकाई के बराबर उपयोगिता प्राप्त होगी।

यहाँ चूँकि उपयोगिताओं को गणनावाचक संख्याएँ प्रदान कर दी जाती हैं अतः इस दृष्टिकोण कहते है। उपयोगिता को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है–

(1)सीमान्त उपयोगिता (Mariginal Utility)

(2)कुल उपयोगिता (Total Utility)

1.4 सीमान्त उपयोगिता (Mariginal Utility)

सीमान्त उपयोगिता का तात्पर्य कुल उपयोगिता में उस वृद्धि से है जो उस वस्तु की एक अतिरिक्त इाकई के उपयोग से प्राप्त होती है। यह उस दर का बताती है जिस दर पर वस्तु के स्टॉक की मात्रा में परिवर्तन होने पर कुल उपयोगिता में वृद्धि होती है।

उपयोगिता **बोल्डिंग के अनुसार,**'' वस्तु की किसी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में वह वृद्धि है जो उपभोग में एक और इकाई की वृद्धि के परिणामस्वरूप होती है।''

सीमान्त उपयोगिता की एक अन्य परिभाषा निम्न प्रकार है– किसी दी हुई वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उस अन्तर के बराबर होती है जो वस्तु की एक इकाई को उपयोग से हटा लेने पर कुल उपयोगिता पर पड़ता है।

इस प्रकार किसी वस्तु की n इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता (a) उस वस्तु की N+1 इकाइयों की कुल उपयोगिता तथा n इकाइयों की कुल उपयोगिता का अन्तर होता है। (b) वस्तु की n इकाइयों की कुल उपयोगिता तथा N-1 इकाइयों की कुल उपयोगिता का अन्तर है।

X वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को निम्न गणितीय सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है–

$$MUx = \frac{dUx}{dQx}$$

OR

सीमान्त उपयोगिता = X वस्तु की कुल उपयोगिता में परिवर्तन

X वस्तु की कुल मात्रा में परिवर्तन

यहॉ MUx किसी वस्तु X की सीमान्त उपयोगिता को बताती है। dUx वस्तु X कुल उपयोगिता में परिवर्तन को बताती है। dQx वस्तु की कुल मात्रा में उपयोगिता का द्योतक है।

सीमान्त उपयोगिता के तीन प्रकार हो सकते हैं– (1) घनात्मक (2) शुन्यात्मक तथा (3) ऋणात्मक।

सामान्यतया जब किसी वस्तु का उपयोग प्रारम्भ किया जाता है तो जो सन्तुष्टि प्राप्त होती है उसे धनात्मक सीमान्त उपयोगिता कहा जाता है।

जब उपभोक्ता के पास वस्तु की इतनी अधिक मात्रा हो जाती है कि अतिरिक्त इकाइयों से कोई सन्तुष्टि नहीं मिलती तो सीमान्त उपयोगिता शुन्य हो जाती है। इस स्थिती को अर्थशास्त्र में 'तृप्ति की सीमा' कहते हैं।

इस स्थिति के बाद भी यदि वस्तु का उपयोग जारी रखा जाता है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

स्पष्ट शब्दों में, इन सभी बातों के आधार पर दो क्रमिक कुल उपयोगिताओं का अन्तर ही सीमान्त उपयोगिता को बतलाता है।

मान लीजिए कि आय की दो इकाईयों से कुल मिलाकर 20 के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है। यदि आय की तीसरी इकाई का उपयोग किया जाये तो कुल उपयोगिता बढ़कर 24 हो जाती है। इस स्थिति में आय की तीसरी इकाई की सीमान्त उपयोगिता (24–20)=4 के बराबर होगी। इस तथ्य को निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है–

आय की इकाइयॉ	प्राप्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता की प्रकृति
1	12	12=12		
2	8	12+8=20	20-12=8	धनात्मक
3	4	12+8+4=24	24-20=4	उपयोगिता
4	0	12+8+4-0=24	24-24=0	शुन्य उपयोगिता
5	.2	12+8+4+0-2=22	22-24=-2	ऋणात्मक
	.6	12+8+4+0-2-6=16	16-22=-6	उपयोगिता

तलिका के विश्लेषण से स्पष्ट है कि तीसरी इकाई तक उपभोक्ता को धनात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है। चौथी आय की इकाई के उपभोग से उपयोगिता क्षुब्ध हो जाती है। यह तृप्ति कहलाती है। यदि उपभोक्ता करता है तो उसे सन्तुष्टि के स्थान पर कष्टकी प्राप्ति होती है अर्थात उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

चित्र 1 से स्पष्ट है कि रोटी की प्रथम 5 इकाइयों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता धनात्मक है। छठी इकाई पर तृप्ति की सीमा आ जाती है। अतः उपयोगिता शुन्य है। सातवीं इकाई से ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है।

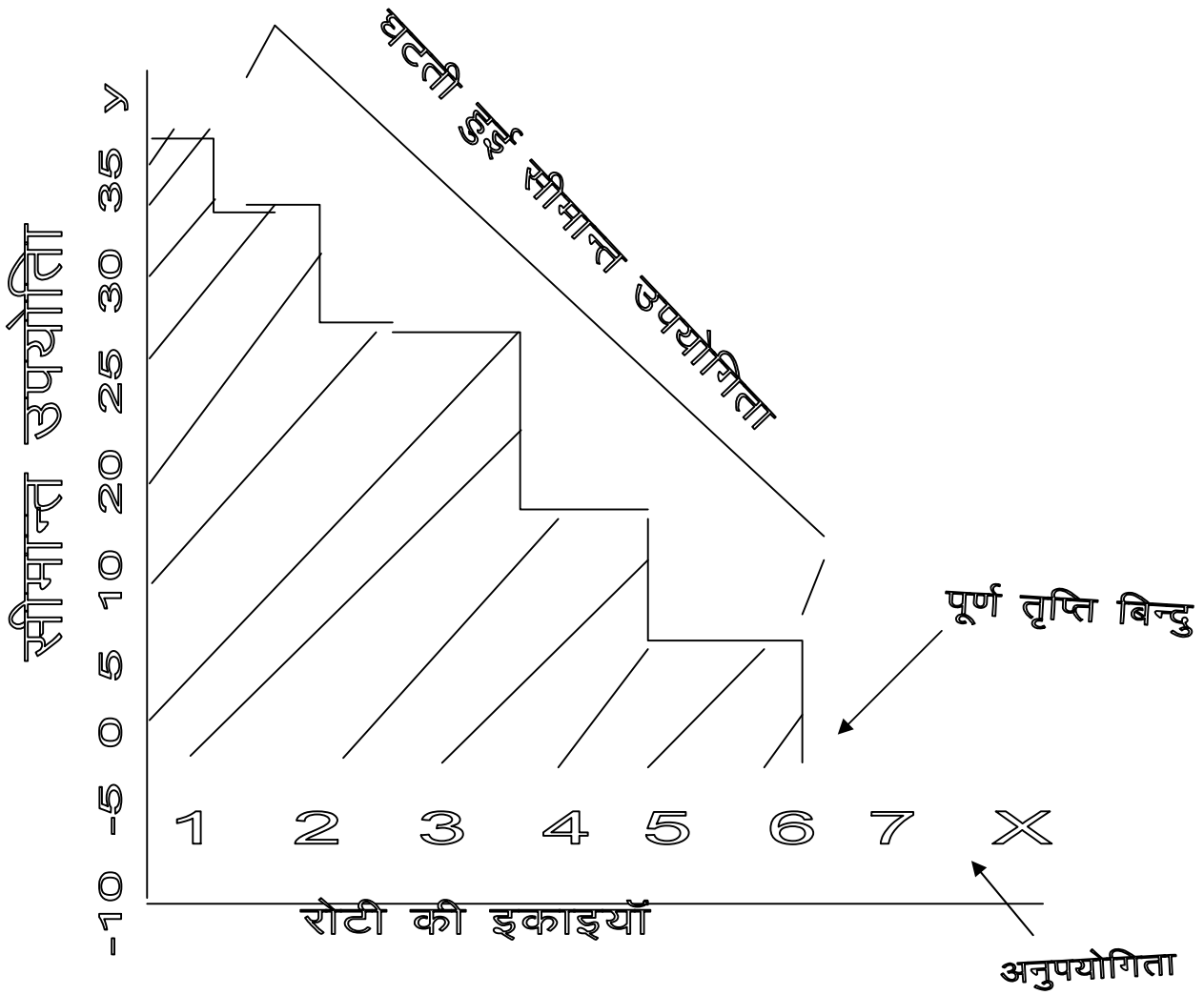

चित्र 1

कुल उपयोगिता

(Total Utility)

जब उपभोक्ता किसी वस्तु की एक से अधिक इकाइयों का उपयोग करता है तो सभी इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं के योग को कुल उपयोगिता कहते हैं। गणित की भाषा में ' कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता का सम्पूर्ण योग होती है।'

किर्जनर के शब्दों में '' किसी वस्तु के स्टॉक से प्राप्त उपयोगिता की मात्रा को कुल उपयोगिता कहते हैं।

मेयर्स के अनुसार ''किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपयोग से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता का योग कुल उपयोगिता है।''

जैसे –जैसे किसी वस्तु की इकाइयों में वृद्धि होती चली जाती है त्यों–त्यों कुल उपयोगिता भी बढ़ती चली जाती है।उपयोगिता में वृद्धि की इकाइयों में वृद्धि के समान नहीं होता क्योंकि इकाइयों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि से सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। जैसे ऊपर दिये हुए उदाहरण में जैसे–जैसे रोटी की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है वैसे–वैसे कुल उपयोगिता में घटते हुए क्रम में वृद्धि होती हैं। जैसे रोटी की दो इकाइयॉ काम में लाने पर कुल उपयोगिता 25 से बढ़ती है,तीन इकाइयों के प्रयोग से कुछ उपयोगिता 18 से बढ़ती है। इसी प्रकार चार इकाइयों का प्रयोग करने पर कुल उपयोगिता 10 से बढ़ रही है कि कुल उपयोगिता में घटते हुए क्रम से वृद्धि होती है।

जब उपभोक्ता छठी रेाजी की इकाई का उपभोग करता है तो कुल उपयोगिता का बढ़ना बन्द हो जाता है, अतः यह पूर्ण सन्तुष्टि का बिन्दु है।

जब छः से अधिक रोटी की इकाइयों का उपयोग किया जाता है तो अतिरिक्त रेाटी की इकाइयों से ऋणात्मक उपयोगिता मिलने के कारण कुल उपयोगिता भी ऋणात्मक हो जाती है।

कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता में सम्बन्ध

इस आधार पर कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता (चित्र 2 के अनुसार) में निम्न सम्बन्ध है–

(A) जब कुल उपयोगिता बढ़ती है तो सीमान्त उपयोगिता घटती है जैसा कि चित्र 2 मे 6 इकाई तक कुल उपयोगिता बढ़ रही है जबकि सीमान्त उपयोगिता कम हो रही है।

(B) जब कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है तो सीमान्त उपयोगिता शुन्य हो जाती है। जैसा कि चित्र 2 में छठी इकाई पर कुल उपयोगिता अधिकतम हैजबमि छठी इकाई पर सीमान्त उपयोगिता शून्य है।

(C) जब कुल उपयोगिता गिरने लगती है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है जैसे कि चित्र 2 मे सातवीं इकाई से कुल उपयोगिता गिर रही है जबकि इसी सातवीं इकाई से सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक है।

सीमान्त विश्लेषण की मान्यतायें

1. मुल्य में सूक्ष्म परिवर्तन के उत्तर में माँग व पूर्ति में निरंतर परिवर्तन होता रहता है।
2. सभी इकायॉ गुण में समान होती हैं।
3. मनुश्य सदैव विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करता है।
4. किसी समय विशेष में आवश्यकताएॅ अपरिवर्तीत रहती हैं।
5. व्यय करने के लिए मनुश्य के पास निश्चित आय होती है।
6. यह भी मान लिया जाता है कि क्रेता व विक्रेता की मात्रा अधिक होती है व विचाराधीन व्यक्ति उनमें से केवल एक ही होता है।

सीमान्त धारणा का महत्व

1. उपभोग के क्षेत्र में
2. उत्पादन के क्षेत्र में
3. विनिमय के क्षेत्र में
4. वितरण के क्षेत्र में,तथा
5. राजस्व के क्षेत्र में।

सीमान्त विश्लेषण की आलोचनायें

1. **सीमान्त विश्लेषण की विभिन्न मान्यतायें अव्यावहारिक हैं जैस–**

(a) यह विश्लेषण यह मानता है कि मूल्यों के सूक्ष्म परिवर्तन के उत्तर में माँग व पूर्ति निरंतर परिवर्तित होती हैं। परन्तु व्यवहार में यह बात लागू नहीं होती है।

(b) वस्तु की सभी इकाइयों को समान रूप मानना ठीक नहीं है। व्यवहार में वस्तु की विभिन्न इकाइयॉ समान नहीं होती है।

(c) इसी प्रकार व्यक्ति सदैव विवेकपूर्ण तरीके से कार्य नहीं करता है। फैशन,रीति–रिवाज व भावनायें असे विवेक का मार्ग छोड़ने के लिए विवश कर देती हैं।

(d)आय को स्थिर मान लेना व आवश्यकतायें अपरिवर्तित समझना ठीक नहीं है।

2.सीमान्त विश्लेषण का प्रयोग व्यष्टि अर्थशास्त्र में ही सम्भव होती है। अतः इसका क्षेत्र सीमित हो गया है।

3. **टिकाऊ वस्तुओं में उपयोगी नहीं**–जिनका प्रयोग निरंतर नही होता है वहॉ सीमान्त विश्लेषण उपयोगी नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए, पंखा,रेडियो इत्यादि टिकाऊ वस्तुये ंतो एक पूर्ण इकाई के रूप्य में ही खरीदी जा सकती हैं। अतःउनके मूल्यों में परिवर्तन होने पर इनको टुकड़ों में नही खरीदा जा सकता।

4. **मापना कठिन** – सीमान्त उपयोगिता,उत्पादकता व सन्तुष्टिया त्याग का ठीक–ठीक माप करना सम्भव नही है। उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है। यह व्यक्ति के विचारों पर निर्भर है। यह समय, स्थान के साथ बदलती रहती है अतः सीमान्त उपयोगिता की माप कठिन होती है।

5.सत्यता का अभाव –सीमान्त विश्लेषण विभिन्न मान्यताओं पर आधारित होने से इसमें सत्यता की कमी पायी जाती है।

उन सभी आलोचनाओं के बाद भी सीमान्त विश्लेषण का अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है।

उपभोक्ता व्यवहार के आधुनिक सिद्धांत को जानने के लिए तटस्थता वक्र विश्लेषण भी संक्षेप में देखा जा सकता है।

खंड – 1
इकाई – 2

मांग विश्लेषण

अध्ययन के उद्देश्य

2.1 मांग के प्रकार

2.2 मांग अनुसूची

2.3 मांग का नियम

2.4 कुल उपयोगिता

2.5 मांग की परिभाषा एवं प्रकार

अभ्यास प्रश्न

माँग विश्लेषण (Demand Analysis)

माँग विश्लेषण के अध्ययन में एक कम्पनी का उत्पाद महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है क्योंकि इस विश्लेषण से ही व्यावसायिक निर्णय प्रभावित होते हैं। एक व्यावसायिक प्रबन्धक यह निर्णय लेता है कि क्या उत्पादन करना है और कितना उत्पादन करना है? वस्तु के उत्पादन की मात्रा एवं उसकी माँग के विषय में व्यावसायिक प्रबन्धक जानकारी प्राप्त करेगा। माँग विश्लेषण के माध्यम से एक व्यावसायिक प्रबन्धक निम्न बातों की जानकारी प्राप्त करता है–

(1)माँग के आकार के निर्धारण तत्व,

(2)माँग की लोच,

(3)कीमतों में परिवर्तन करने से विक्रय प्रोत्साहन की सम्भावना,

(4)विज्ञापन से माँग में होने वाले परिवर्तन,एवं

(5)विक्रय,विस्तृत सूची एवं विज्ञापन लागत आदि के अनुकुलतम स्तर।

अर्थशास्त्र में माँग का नियम उतना ही प्राचीन है,जितना अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से माँग के नियम पर आधारित है। यदि यह कहा जाय कि,माँग एवं पूर्ति के चारों ओर संपूर्ण आर्थिक विश्लेषण चक्कर लगा है,'' इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी माँग के नियम के बिना उपभोग एवं बाजार की विभिन्न दशाओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। माँग की परिभाषा विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न रूपों में व्यक्त कि है।

माँग की परिभाषा (Definition of Demand) –माँग की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं:

(1) प्रो.पेन्सन के अनुसार,'' माँग एक प्रभावपूर्ण इच्छा है जिसमें तीन बातें शामिल हैं–(प) वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, (पप) वस्तु को खरीदने हेतु पर्याप्त साधन तथा (पपप) साधनों को व्यय करने की तत्परता।''[1]

(2)प्रो.जे.एस.मिल(JS Mill)के शब्दों में''माँग शब्द का अभिप्राय माँगी गई मात्रा से लगाया जाना चाहिए जो कि एक निश्चित मूल्य द्वारा क्रय की जाती है। माँग की मात्रा स्थिर मात्रा नहीं होगी। यह तो सामान्य मूल्य के साथ बदलती रहती है।''[2]

(3)प्रो.मेयर्स (Mayers)के अनुसार ''किसी वस्तु की माँग उन वस्तुओं की मात्राओं की सारणी होती है जिन्हें क्रेता समय विशेष पर सभी सम्भव मूल्यों पर खरीदने के लिए तैयार रहता है।''[1]

उपर्युक्त परिभाषाओंके आधार पर यह निश्कर्श निकाला जा सकता है कि माँग में निम्न पॉच तत्व पाये जाते हैं :

(i) वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा,

(ii) वस्तु को प्राप्त करने हेतु पर्याप्त साधन,

(iii) वस्तु विशेष पर साधन व्यय करने की तत्परता,

(iv) वस्तु की इच्छा कीमत विशेष से सम्बन्ध रखती है,

(v) माँग का सम्बन्ध समय विशेष से होता है।

2.1 मांग के प्रकार

–माँग की परिभाषा जानने के पश्चात् इसके विभिन्न प्रकारों की जानकारी भी आवश्यक है,माँग के निम्न तीन प्रकार होते हैं :

(i) मूल्य माँग (Price Demand)

(ii) आय माँग (Income Demand)

(पपप) प्रति अथवा आड़ी माँग (Cross Demand)

(i) **मूल्य माँग** (Price Demand)– अन्य बातें समान रहते हुए,एक उपभोक्ता एक निश्चित समय में विभिन्न मूल्य स्तरों पर वस्तु की कितनी मात्राएँ खरीदता है,यह उसकी मूल्य माँग कहलाती है। अन्य बातें समान रहने से आशय उपभोक्ता की आय,रूचि तथा व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना है। यदि इन बातों में परिवर्तन होगा तों यह नियम कार्यशील नहीं होगा। इस प्रकार वस्तु की माँग उसकी कीमत पर निर्भर करती है। मूल्य माँग को निम्न चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है %

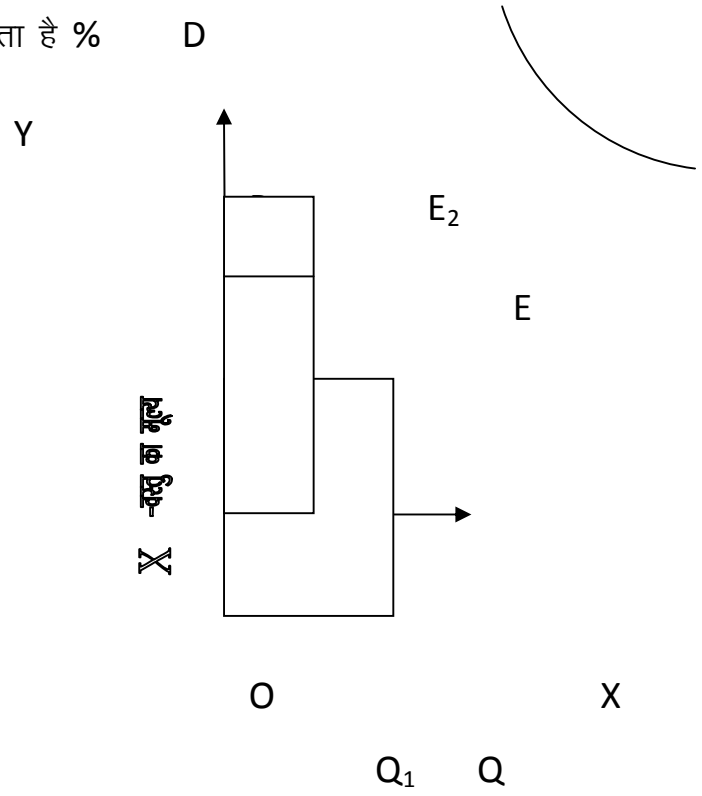

X–उत्पादन की मात्रा

चित्र–1

उपर्युक्त चित्र में X–अक्ष पर X वस्तु की मात्रा तथा Y–अक्ष पर Y वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। DD माँग वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता है। माँग वक्र का ढाल ऋणात्मक है। इसलिए ऊँचे मूल्य पर कम मात्रा तथा नीचे मूल्य पर अधिक मात्रा खरीदी जाती है। OP कीमत पर वस्तु की OQ मात्रा तथा OP_1मात्रा खरीदी जाती है। वस्तु के मूल्य में कमी आने पर माँग वक्र पर स्थित E_1 बिन्दु पर आ जाता है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत माँग है और सभी व्यक्तियों की माँग को जोड़ने से वस्तु की बाजार माँग ज्ञात की जा सकती है।

आय माँग (Income Demand)– आय माँग से आशय उन वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्राओं से है जिन्हें किसी समय विशेष में अन्य बातें समान रहते हुए उपभोक्ता उपने आय–स्तरों पर खरीदने हेतु तत्पर रहता है। आय माँग के अन्तर्गत वस्तुओं को श्रेष्ठ(iperior) तथा घटिया (Inferior) वस्तुओं की श्रेणी में विभक्त करके भी अध्ययन किया जा सकता है। सामान्यतया आय माँग वक्र निम्न प्रकार से दर्शाया जाता है :

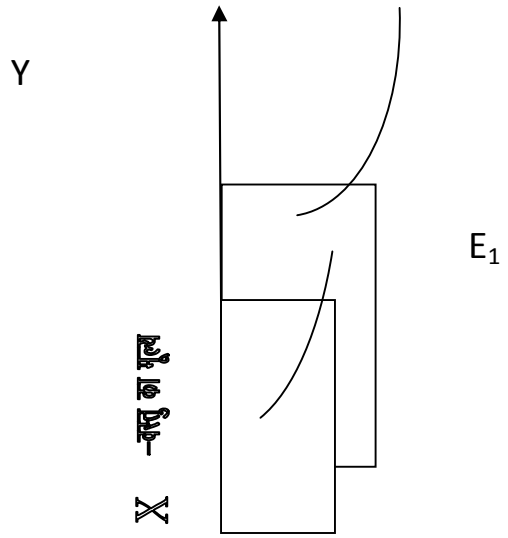

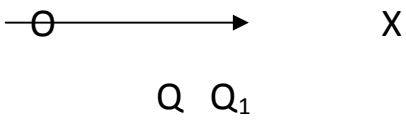

वस्तु की मात्रा

चित्र–2

उपर्युक्त चित्र में OX–अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा OY–अक्ष पर उपभोक्ता की आय प्रदर्शित की गई है। DD माँग वक्र मूल्य बिन्दू से ऊपर की ओर धनात्मक रूप से बढ़ रहा है। इससे स्पष्टहै कि आय एवं माँग में सीधा सम्बन्ध है अर्थात् आय में वृद्धि से वस्तु की माँग बढ़ती है तथा आय में कमी से इसकी माँग घटती है।

श्रेष्ठवस्तुओं (Superior) के सम्बन्ध में जो माँग वक्र प्राप्त होगा उसका ढाल धनात्मक होगा,क्योंकि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होने के साथ–साथ इन वस्तुओं की माँग बढ़ाई जाती है। इस प्रकार व्यक्ति की आय का सीधा सम्बन्ध वस्तु की माँग से होता है। जिसमें माँग वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर उठता जाता है। इसे चित्र संख्या 2 से स्पष्टकिया जा सकता है। चित्र के अनुसार जब उपभोक्ता की आय OY_1 थी तब वह X वस्तु की OQ मात्रा क्रय कर E बिन्दु पर रहता है। उपभोक्ता की आय OY_1 से बढ़कर OY_2 हो जाती है। तब वह अपनी आय से X वस्तु की OQ_1 हो जाती है। तब वह अपनी आय से X वस्तु की OQ_1 मात्रा तक क्रय कर लेता है जिससे E_1 बिन्दु पर रहता है।

घटिया या निकृश्ट श्रेणी की वस्तुओं (Inferior goods) के सम्बन्ध में माँग वक्र का ढाल ऋणात्मक होता जैसा कि विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में होता है। उपभोक्ता की आय में ज्यों–ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों–त्यों उसके द्वारा इन वस्तुओं का उपभोग घटा दिया जाता है। दूसरे शब्दों में निकृश्ट वस्तुओं के लिए उपभोक्ता की आय तथा माँग में ऋणात्मक सम्बन्ध पाया जाता है। इसे निम्न चित्र–3 ये दर्शाया गया है :

उपर्युक्त चित्र में OY-अक्ष पर उपभोक्ता की आय तथा OX-अक्ष पर X वस्तु की क्रय की जाने वाली मात्रा दर्शायी गई है। जब उपभोक्ता की आय OY_2 होती है तब वह वस्तु की OQ_1 मात्रा क्रय करता है तथा आय में वृद्धि होने पर OY_2 आय के स्तर पर OQ मात्रा वस्तु खरीदी जावेगी। अतः निकृश्ट वस्तुओं के लिए आय प्रभाव ऋणात्मक होता है।

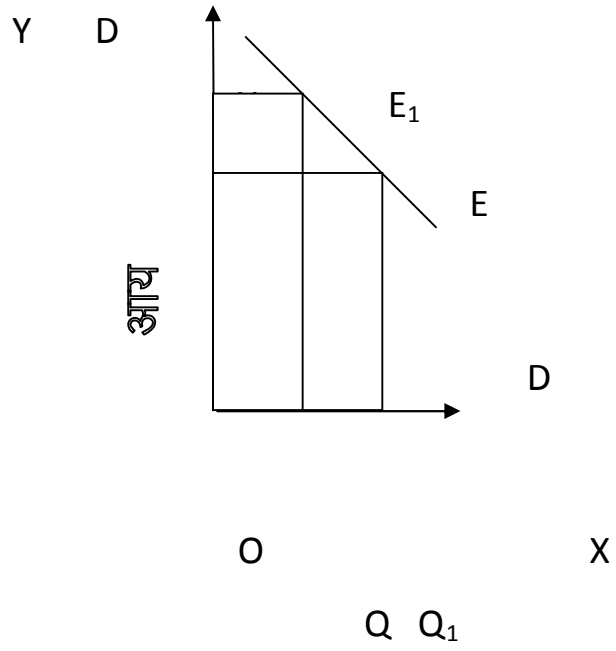

चित्र–3

प्रति अथवा आड़ी माँग (Cross Demand)– किसी वस्तु की प्रति या आड़ी माँग वस्तु की उन क्रियाओं को दर्शाती है जिसे उपभोक्ता एक निश्चित समय में,उस वस्तु के

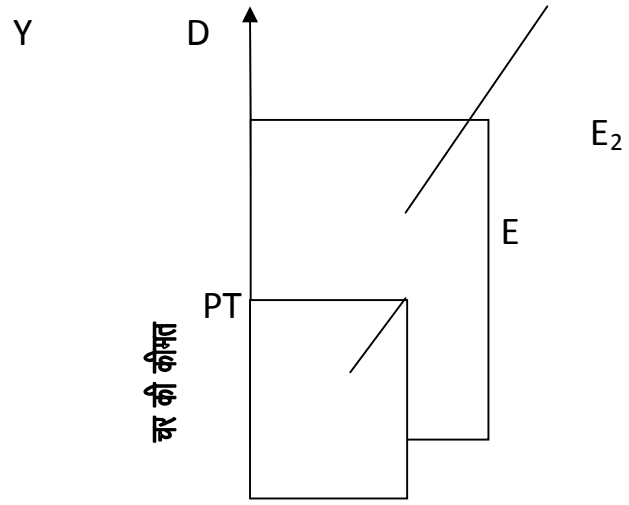

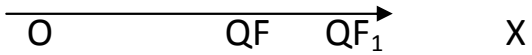

वस्तु की मांग

चित्र–4

मूल्य तथा आय के समान रहने पर स्थानापन्न वस्तु के मूल्यों में परिवर्तन होने पर खरीदने को तैयार होता है। प्रतिस्थान्नापन्न वस्तुओं (Subsitute goods) अथवा पूरक वस्तुओं (Complementary goods) के सन्दर्भ में होती है।

प्रति स्थानापन्न वस्तुओं की स्थिति में जब एक वस्तु की कीमत में वृद्धि हो जाती है। तो दूसरी वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ,चाय,कॉफी का प्रतिस्थापन्न है। यदि चाय की कीमत में अधिक वृद्धि हो जाती है तो कॉफी की माँग बढ़ जायेगी क्योंकि चाय की अपेक्षा कॉफी सस्ती हो गई है। यही कारण है कि प्रतिस्थापन वस्तु की माँग का वक्र धनात्मक होता है। इसे चित्र–4 से स्पष्टकर सकते हैं।

उपर्युक्त चित्र 4 में क्क माँग वक्र चाय की कीमत तथा कॉफी की माँग मात्रा में सीधा सम्बन्ध दर्शाता है। यदि चाय की कीमत व्व्ज से बढ़कर व्व्ज$_1$ हो जाती है तो कॉफी की माँग मात्रा भी व्कथ से बढ़कर OQF_1 हो जाती है।

पूरक वस्तुओं के सन्दर्भ में प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं के विपरीत स्थिति पाई जाती है। यदि किसी एक पूरक वस्तु की किमत मे वृद्धि होती है तो दूसरी वस्तु की माँग बहुत अधिक घट जाती है। उदाहरणार्थ, किक्रेट बैट की कीमत में वृद्धि होने से क्रिकेट बॉल की काम नहीं होता है। इसे चित्र–5 द्वारा स्पष्टकिया गया है :

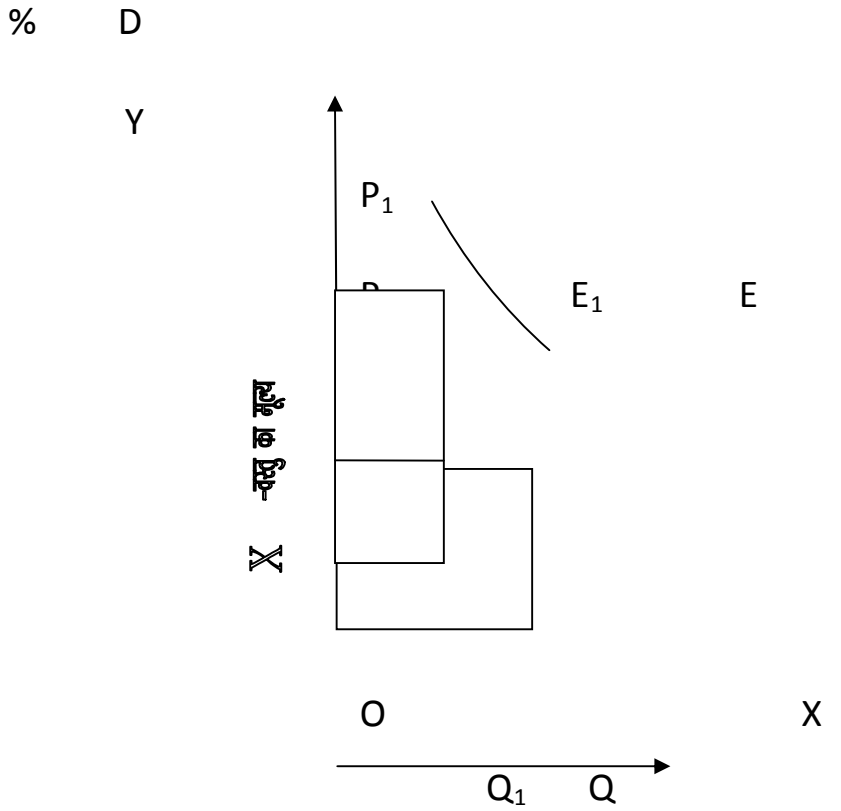

X–वस्तु की माँग

चित्र–5

इस चित्र में DD वक्र पूरक वस्तु का माँग वक्र है। Yवस्तु की कीमत OP से बढ़कर OP_1 हो जाती है तो X वस्तु की माँग मात्रा OQ से घटकर OQ_1 हो जाती है। अतःपूरक वस्तुओं के माँग वक्र का ढाल ऋणात्मक होता है तो उस वस्तु की माँग तथा पूरक वस्तु की कीमत में विपरीत सम्बन्ध की व्याख्या करता है।

2.2 माँग अनुसूची (Demand Schedule)–

माँग अनुसूची किसी समय विशेष में दिये हुए मूल्यों पर उस वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्राओं को दर्शाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि माँग अनुसूची मूल्य तथा माँगी गई मात्रा में कार्यात्मक सम्बन्ध (Functional Relation) को व्यक्त करती है। प्रो.बेन्हम (Benham)के

अनुसार, ''किसी बाजार में एक निश्चित समय पर दिये हूए मूल्यों पर वस्तु की मात्रा बेची जाती है यदि वस्तु की उस मात्रा को एक सारणी के रूप में लिखा जाय तो यह माँग सारणी या अनुसूची कहलाती है।''

(1) माँग अनुसूची माँग तालिका (Individual Demand Schedule)

(2) बाजार माँग तालिका (Market Demand Schedule)

व्यक्तिगत माँग तालिका(Individual Demand Schedule)–व्यक्तिगत अनुसूची या तालिका वह अनूसूची है जो एक व्यक्ति के सम्बन्ध में इस बात की जानकारी प्रदान करती है कि वह किसी समय विशेष में दी हूई कीमत पर उस वस्तु की कितनी मात्रा को क्रय कर रहा है। इस प्रकार माँग अनुसूची किसी वस्तु या सेचा के मूल्य तथा उसकी माँगी मात्रा में क्रियात्मक सम्बन्ध प्रकट करती है। यह निम्नांकित अनुसूची से दर्शाया जा सकता है।

तलिका– 1.व्यक्तिगत माँग अनुसूची

मूल्य प्रति इकाई (रूपये में)	माँग गई X वस्तु की इकाइयॉ
1	60
2	50
3	40
4	30
5	20
6	10

उपर्युक्त तालिका से स्पष्टहै कि ज्यों–ज्यों वस्तु की कीमत बढ़ती है, वैसे–वैसे उसकी माँगी जाने वाली मात्रा घटती जाती है। जब वस्तु का मूल्य एक रूपया है तब वस्तु की 60 इकाईयों की माँग की जाती है जबकि वस्तु की कीमत एक रूपये से बढ़कर 8 रूपये होने

पर माँग ी जाने वाली मात्रा 10 इकाइयॉ हो जाती हैं अर्थात् कीमत में और वस्तु की माँग मात्रा की विपरीत सम्बन्ध है। इसे चित्र 6 में दर्शाया गया है।

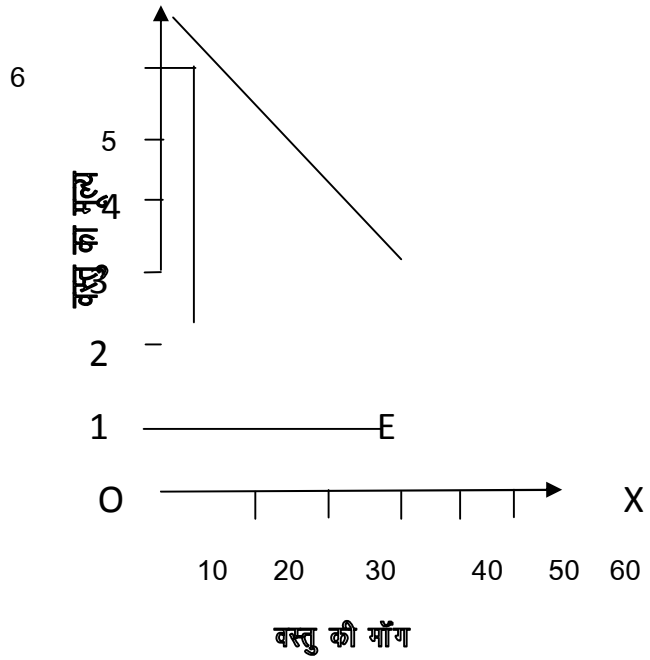

चित्र 6

इस चित्र में OY–अक्ष पर X की कीमत तथा OX– अक्ष पर X वस्तु की माँग मात्रा को दिखाया गया है। वस्तु कीमत एक रूपया होने पर इसकी माँग मात्रा 60 इकाइयॉ है तथा कीमत 6 रूपये होने पर इसकी माँग मात्रा घटकर 10 इकाइयॉ हो जाती है।

बाजार माँग अनुसूची (Market Demand Scheduale)–बाजार में वस्तु के असंख्य क्रेता होते हैं जिनके सम्बन्ध में अनेकानेक माँग वक्रों को प्राप्त किया जाता है यदि सभी व्यक्तिगत माँग वक्रों को एक साथ जोड़ दिया जाय, तो बाजार माँग अनुसूची को दो प्रकार से ज्ञात किया जा सकता हैः

प्रथम,जब विभिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत माँग अनुसूची को जोड़ दिया जाता है तो बाजार माँग वक्र की संरचना हो जाती है।

द्वितीय,बाजार माँग अनुसूची को ज्ञात करने हेतू बाजार के समस्त क्रेताओं में से प्रतिनिधी क्रेताओं का चुनाव कर लिया जाता है। फिर प्रतिनिधि क्रेताओं की माँग से कुल क्रेताओं की माँग को गुणा कर लिया जाता है। इससे माँग अनुसूची तैयार हो जाती है।

अतः बाजार में विभिन्न कीमतों तथा उनसे सम्बन्धित कुल माँगों को मिलाकर एक बाजार माँग अनुसूची तैयार की जा सकती है। उदाहरणार्थ,किसी बाजार में तीन व्यक्ति X Y तथा Z हैं और किसी वस्तु के लिए उन तीनों व्यक्तियों की माँग अनुसूची निम्न प्रकार

तालिका–2

वस्तु का मूल्य (रूपयों में)	माँगी गई मात्राएँ			बजार माँग (कुल माँग)
	X द्वारा	Y द्वारा	˙ द्वारा	(X, Y तथा Z की कुल माँग)
1	10	9	8	27
2	8	7	7	22
3	6	5	6	17
4	4	3	4	11
5	2	2	3	7
6	1	1	2	4

तलिका–2 से स्पष्ट है कि विभिन्न उपभोक्ताओं की माँग को दिखाया गया है,जिन्हें चित्र संख्या 7 से स्पष्टकिया जा सकता है और अन्त में उन सब के योग के बराबर माँग वक्र की रचना की गई हैं माँग वक्र ऊपर से नीचे की ओर झुका हुआ है जो इस बात का सूचक है कि कीमत होने पर माँग बढ़ती है तथा कीमत बढ़ने पर माँग घटती है अर्थात् मूल्य में तथा वस्तु की माँग मात्रा में विपरीत सम्बन्ध है।

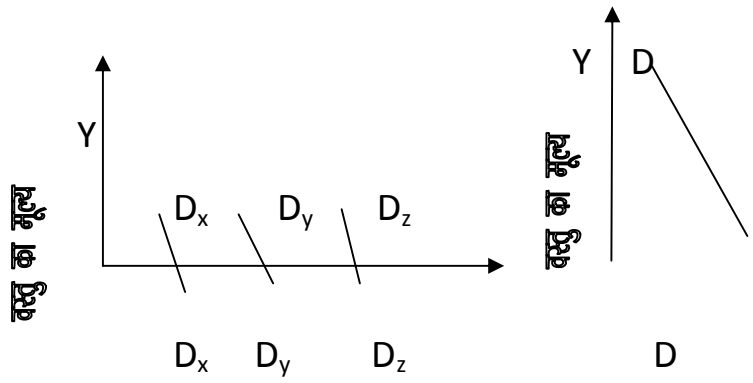

चित्र 7

माँग वक्र की मान्यताएँ

(Assumptions of the Demand Curve)

माँग वक्र निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(1)उपभोक्ताओं का स्वभाव,रूचि एवं आय में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(2)विभिन्न वस्तुओं जिनके उपभोग में उपभोक्ता की रूचि होती है,की कीमतें अपरिवतर्तित रहती हैं।

(3)माँग वक्र स्थिर स्थिति को प्रदर्शित करता है।

(4)कीमत तथा माँग के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन निरन्तर होते रहते हैं।

(5)एक निरन्तर माँग वक्र यह मानता है कि वस्तु की छोटी–छोटी इकाइयॉ हो सकती हैं।

2.3 मांग का नियम (Law of Demand)

किसी वस्तु के मूल्य तथा उसकी माँग ी गई मात्रा के सम्बन्ध को माँग का नियम कहते हैं। माँग के नियम की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) प्रो.मार्शलके अनुसार,''माँग के नियम का सामान्य कथन यह है कि वस्तुओं की अधिक मात्रा की बिक्री के लिए उसके मूल्य में कमी होनी चाहिए ताकि उस वस्तु के क्रेता अधिक हो सकें। दूसरे शब्दों में,मूल्य के गिरने से माँग बढ़ती है और मूल्य के बढ़ने से मॉ घटती है।''[1]

(2)प्रो.सैम्यूलसन(Samuelson) के अनुसार,''अन्य बातें समान रहते हुए यदि किसी वस्तु की अधिक मात्राएँ बाजार में आती हैं तो वे वस्तुएँ कम मूल्य पर बेची जायेंगी।''

उपर्युक्त परिभाषाओंसे स्पष्टहै कि माँग मूल्य के विपरीत बदलती रहती है। परन्तु माँग का नियम इस बात की जानकारी नहीं दे सकता है कि मूल्य और माँग के बीच क्या आनुपातिक सम्बन्ध है। यह हमें केवल माँग में वृद्धि या कमी को स्पष्टकरती है।

माँग का नियम की मान्यताएँ

(Assumptions of the Law of Demand)

प्रायः अर्थशास्त्र के प्रत्येक सिद्धान्त में 'अन्य बातें समान रहते हुए' वाक्यांश जुड़ा रहता है। माँग के नियम में भी यही वाक्यांश जुड़ा हुआ है। प्रो.मेयर्स ;डमलमतेद्धके अनुसार इस नियम की मान्यताये निम्न है।ः

(1)उपभोक्ता की आय में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है।

(2)उपभोक्ता का स्वभाव,रूचि एवं फैशन स्थिर रहती है।

(3)वस्तुओं की कीमत तथा आय में परिवर्तन नहीं होते हैं।

(4)वस्तुओं को क्रय करते समय इसकी स्थानापन्न वस्तु को ध्यान में नहीं रखा जाता है।

माँग का नियम की व्याख्या

(Explanation of the Law of Demand)

माँग के नियम की व्याख्या के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि माँग वक्र ऊपर से नीचे दायी और क्यों झुकता है अर्थात् क्रेता किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उसकी अधिक इकाइयॉ क्यों क्रय करता है? इन सब बातों के निम्न कारण हैं :

(1) सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Deminishing Marginal Utility)– माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। कोई भी उपभोक्ता किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता से अधिक नहीं देना चाहता है। उसके द्वारा वस्तु की जितनी इकाइयों का क्रय किया जाता है उनसे मिलने वाली उपयोगिता क्रमशः घटने लगती है। अतः मूल्य गिरने पर ही अधिक इकाइयॉ उपभोक्ता क्रय करने के लिए तैयार हो सकता है। इसके विपरीत यदि उपभोक्ता को वस्तु की कम इकाइयॉ प्राप्त होती हैं तो उसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी और वह वस्तु के लिए अधिक मूल्य देने तैयार हो जायेगा। इस प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम माँग के नियम की

व्याख्या करता है कि कम कीमत पर वस्तु की अधिक इकाइयॉ तथा अधिक कीमत पर वस्तु की कम इकाइयॉ उपभोक्ता क्यों खरीदता है।

(2) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect)– माँग वक्र के ऊपर बायें से दायें ओर गिरने का प्रमुख कारण प्रतिस्थापन प्रभाव का लागू होना भी है। जब किसी आवश्यकता की पूर्ति दो या दो से अधिक वस्तुओं से की जा सकती है तो उसे प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect) कहा जाता है। उदाहरणार्थ,भोजन पकाने हेतु मिट्टी का तेल,कोयला,लकड़ी आदि का प्रयोग किया जा सकता है। यदि मिट्टी के तेल के मूल्य में वृद्धि होती है तथा कोयला व लकड़ी का मूल्य अपरिवर्तित रहता है तो उपभोक्ता मिट्टी के तेल के स्थान पर कोयला एवं लकड़ी का प्रयोग कर सकता है। इससे मिट्टी के तेल की माँग घट जायेगी तथा कोयला व लकड़ी की माँग बढ़ जायेगी। इस प्रकार प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसकी माँग घटती है तथा कीमत घटने पर माँग बढ़ेगी।

(3) आय प्रभाव (Income Effect)– वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है। अ बवह पहले खरीदी जाने वाली वस्तु की मात्रा कम मुद्रा में क्रय कर सकता है अथवा पहले से अधिक वस्तु की मात्रर क्रय करने की स्थिति में होता है। उदाहरणार्थ सरसों के तेल में 15 रूपये प्रति किलो से कमी होकर 10 रूपये प्रति किलो होने पर उपभोक्ता के लिए सरसों का तेल सस्ता हो जाता है तथा 5 रूपये प्रति किलो की वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है। अब एक किलों के स्थान पर डेढ़ किलो तेल खरीदता है तो यह तेल की माँग में वृद्धि आय प्रभाव के कारण है। कभी–कभी वस्तु के मूल्य में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि वह उसकी मॉ कम कर देता है। यह भी आय प्रभाव का ही परिणाम है।

(4) उपभोक्ताओं की संख्या में परिवर्तन(Change in Consumers Numbers)– जब कभी किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने पर पहले उपभोग न करने वाले भी उसका उपभोग करने लगते हैं तो इसमें उपभोक्ताओं की संख्या में वृद्धि हो जाती हैं इसके विपरीत इसकी किमत में वृद्धि होने से कई उपभोक्ता इसकी माँग कम कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं की संख्या में कमी आ जाती है। इससे वस्तु की कुल माँग घट जाती है।

(2) माँग के नियम के अपवाद

माँग के नियम के अपवाद के अन्तर्गत इस तथ्य का अध्ययन किया जाता है कि क्या हमेशा वस्तु के मूल्य तथा उसकी माँग में विपरीत सम्बन्ध होता है अथवा इन दोनों में सीधा सम्बन्ध भी हो सकता है। इस दशा को माँग का अपवाद कहा जाता है। माँग के नियम के प्रमुख अपवाद निम्न हैं:

(1) वस्तु के भावी मूल्य में वृद्धि की सम्भावना– जब कभी भी किसी वस्तु के मूल्य में भविष्य में वृद्धि होने की आशंका या सम्भावना होती है तो उपभोक्ता उस वस्तु की माँग अधिक करते हैं जिसके परिणाम स्वरूप कीमतों में वृद्धि के साथ–साथ उस वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ सोने के मूल्य में वृद्धि होने लगी है, क्योंकि तेल निर्यातक देशों के संगठन (P.O.E.C.) ने स्वर्ण में भूगतान लेने की घोशणा कर दी थी। इस प्रकार युद्ध, बाढ़,सूखा एवं अकाल के समय विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होना इसी प्रकार की स्थिति को बताता है।

(2) अज्ञानता–क्रेता की अज्ञानता एवं आलस्य के कारण भी कई बार ऊँची कीमत पर ही वस्तु का क्रय किया जाता है। कई बार किसी वस्तु की कम कीमत होने पर उसे उपभोक्ता घटिया समझ कर उसका क्रय नहीं करता है। परन्तु ज्यों ही उसी वस्तु का मूल्य बढ़ा दिया जाता है, त्यों ही लोग उस वस्तु को अधिक उपयोंगी समझने लगते हैं और इससे माँग बढ़ने लगती है। इससे स्पष्टहै कि ऊँचे मूल्य वाली वस्तु के प्रति उपभोक्ता का आकर्शण होता है जिसके परिणामस्वरूप माँग का नियम अपवाद–स्वरूप पाया जाता है।

(3) प्रदर्शनकारी प्रभाव (Demonstration Effect)–आकर्शण एवं प्रदर्शन प्रभाव के कारण ऊँची कीमतों पर भी वस्तुओं की माँग अधिक की जाती है। धनी वर्ग ऊँची कीमत वाली वस्तुओं को खरीदकर समाज में शान–शौकत प्रदर्शित करते हैं। हीरे–जवाहरात,बहुमूल्य–आभूशण, कीमती वस्तुएँ आदि इसके उदाहरण हैं। इन वस्तुओं के मूल्यों में ज्यों–ज्यों वृद्धि होती है, त्यों–त्यों इन वस्तुओं की माँग भी बढ़ायी जा सकती है।

(4) निकृष्ट वस्तुएँ (Inferior goods)–अर्थशास्त्र के अन्तर्गत निकृष्ट वस्तुएँ उन्हें कहा जाता है जिन वस्तुओं का उपभोग निर्धन वर्ग द्वारा किया जाता है। कभी–कभी निम्न श्रेणी की घटिया वस्तुओं के मूल्यों में बहुत अधिक कमी हो जाती है, तब उपभोक्ता इन वस्तुओं का उपभोग घटा देता है,परिणामस्वरूप निकृश्ट वस्तुओं की माँग घट जाती है और अन्य वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। यह एक विरोधाभास है क्योंकि वस्तु के मूल्य में कमी होने पर भी उसकी माँग घट जाती है।

माँग में वृद्धि और कमी व माँग का विस्तार एवं संकुचन में अन्तर (Expansion and Contraction of Demand v/s Increase or Decrease of Demand)– साधारणतया माँग की वृद्धि,मॉग का विस्तार एवं माँग का संकुचन का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। परन्तु आर्थिक विश्लेषण में दोनों का ही भिन्न–भिन्न अर्थ है। यहॉ दोनों की व्याख्या करना परमावश्यक हो गया है।

माँग में वृद्धि या माँग में कमी

(Increase or Decrease in Demand)

माँग में वृद्धि या कमी केवल मूल्य में परिवर्तन के कारण ही नहीं होती है,बल्कि इसमें मूल्य के अतिरिक्त अन्य तत्व भी सम्मलित होते हैं, जो इसे प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में माँग में कमी या वृद्धि मूल्य के प्रभाव से स्वतन्त्र होती है। क्योंकि जिस समय हम माँग परिवर्तन का अध्ययन करतें हैं उस समय मूल माँग अनुसूची के स्थान पर नई मॉ अनुसूची का निर्माण करते हैं परन्तु वस्तु के मूल्य में किसी वस्तु के मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखाया जाता है। ऐसी स्थिति में माँग वक्र बायें से दायें ओर खिसक जाता है। उपभोक्ता अपनी माँग में वृद्धि या कमी अपनी आवश्यकता, आय, आन्तरिक तथा बाह्म परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करता है। जब वस्तु की माँग में वृद्धि होगी तो प्रत्येक मूल्य से सम्बन्धित माँग की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी और माँग में कमी होने पर प्रत्येक मूल्य से सम्बन्धित

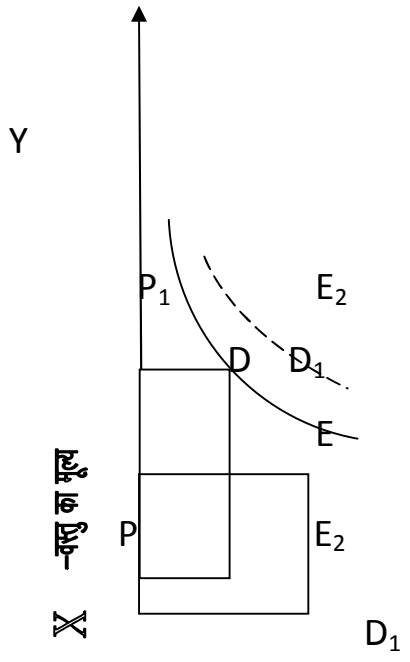

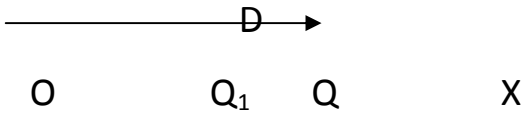

X–उत्पादन की मात्रा

चित्र–8

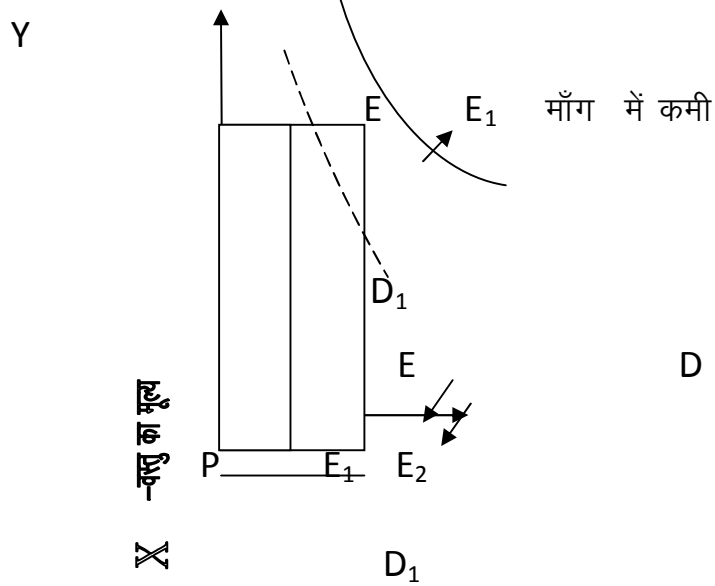

X–उत्पादन की मात्रा

चित्र–9

वस्तु की मात्रा पहले से कम हो जायेगी। इन दोनों स्थितियों को चित्रों की सहायता से समझाया जा सकता है।

चित्र संख्या 8 में DD प्रारम्भिक माँग वक्र है। OP कीमत पर वस्तु की माँग OQ_1 है। वस्तु की कीमत पूर्ववत् रहती है परन्तु माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों में परिवर्तन होने से माँग OQ_1 से बढ़कर OQ हो जाती है अर्थात् माँग बिन्दु E_1 से सिखककर E_2 हो जाता है। इसी प्रकार अन्य बिन्दुओं की सहायता से भी इस स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र में E तथा E_2 से

गुजरने वाला D_1 D_1 माँग वक्र बढ़ी हुई माँग को प्रदर्शित करता है। यहॉ माँग में वृद्धि के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं:

(प) वही मात्रा OQ_1 ऊँची कीमत पर (OP_1 पर माँगी जाती है अथवा

(पप) उसी कीमत व्व पर अधिक मात्रा व्फ माँगी जाती है। E तथा E_2 दोनों नये माँग वक्र D_1D_1 पर हैं जो माँग में वृद्धि को बताता है।

माँग में कमी (Decrease in Demand) दो बातों से आती है– प्रथम,एक ही मूल्य पर माँग ी जाने वाली वस्तु की मात्रा में कमी होना तथा द्वितीय,कम मूल्य पर माँगी गई मात्रा का पहले के बराबर रहना अथवा उससे कम हो जाना। इस स्थिति को चित्र संख्या 9 से स्पष्टकिया जा सकता है। चित्र में प्रारम्भिक माँग वक्र DD है। कीमत के अतिरिक्त माँग के निर्धारक तत्वों में परिवर्तन आ जाने से माँग में कमी आ जाती है अर्थात् माँग वक्र दायें से बायीं ओर नीचे आ जाता है। इस प्रकार नया माँग वक्र D_1D_1 हो जाता है। माँग में परिवर्तन से पूर्व OP_1 कीमत पर OQ_1 से घटकर व्फ हो जाती है। इस प्रकार E_1 बिन्दु खिसक कर E पर आ जाती है। इस प्रकार E तथा E_2 से गुजरने वाली बिन्दु D_1D_1 घटी हुई माँग वक्र को स्पष्ट करती है। यहॉ पर भी माँग में कमी के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं:

(प) उसी OP_1 मूल्य पर DD माँग वक्र पर माँगी गई वस्तु की मात्रा OQ_1 से कम होकर D_1D_1 हो गई।

(ii) मूल्य के व्व हो जाने पर भी माँगी गई मात्रा उतनी ही यानी OQ_1 है।

माँग में विस्तार तथा माँग में संकुचन

(Expansion and Contraction in Demand)

माँग का नियम मूल्य तथा माँग के बीच पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूल्य में वृद्धि होने पर माँग में कमी या माँग का विस्तार हो जाता है। अतः माँग का विस्तार या माँग का संकुचन मूल्य के ऊपर निर्भर रहता है। मौंग में विस्तार तथा माँग में संकुचन एक ही माँग वक्र पर होने वाले परिवर्तनों को बताता है। माँग वक्र पर कोई

बिन्दु बायें से दायें ओर को चलता है तो इस स्थिति को माँग में वृद्धि कहा जायेगा। इसके विपरीत जब माँग रेखा पर कोई बिन्दु दायें से बायें की ओर बढ़ता है, तब उसे माँग में संकुचन कहा जायेगा। चित्र संख्या 10 में माँग में विस्तार तथा माँग में संकुचन को दर्शाया गया है।

निम्न चित्र में DD माँग वक्र है। ज्यों–ज्यों वस्तु के मूल्य में कमी होती हैं, त्यों–त्यों वस्तु की माँग में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ जब वस्तु की कीमत OP_2 है तब इसकी माँग केवल OQ है तथा जब कीमत घटकर OP हो जाती है तो माँग मात्रा OQ_2 हो जाती है। यह E_2 से बढ़कर OQ_2 हो जाती है। यह E_2 से मबिन्दु की ओर चलन माँग में विस्तार को दर्शाता है। इसके विपरीत जब कीमत OPसे बढ़कर OP_2 हो जाती है तो माँग की मात्रा भी OQ_2 से घटकर व्कहो जाती है अर्थात् माँग वक्र DD पर E से E_2 की ओर चलन माँग में संकुचन को दर्शाता है।

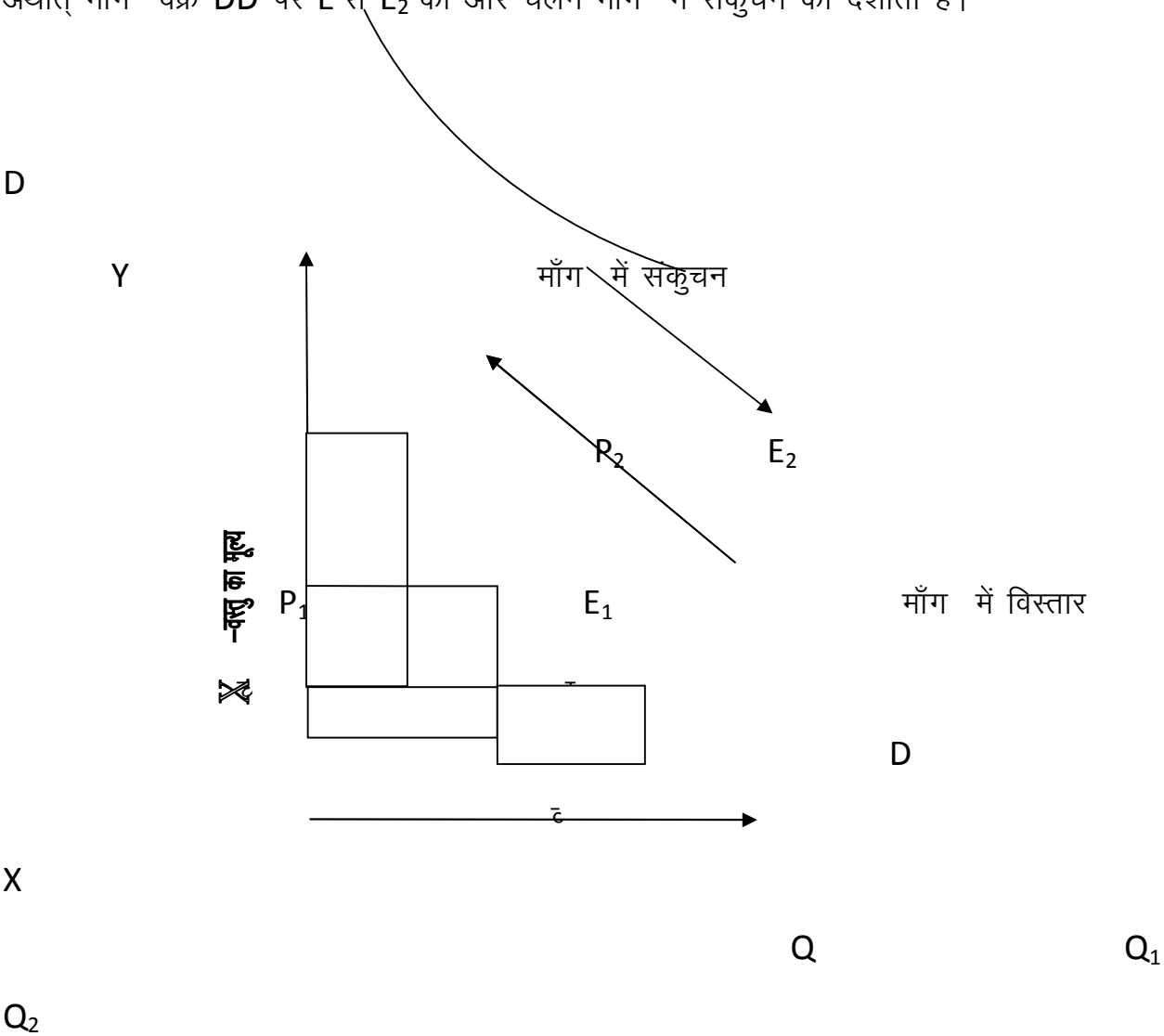

X–वस्तु की मात्रा

चित्र–10

माँग को प्रभावित करने वाले तत्व

(Factors Affecting the Demand)

वस्तु अथवा सेवा की माँग को निम्नांकित तत्व प्रभावित करते हैः–

(1) उपभोक्ता की आय–माँग को प्रभावित करने में उपभोक्ता की आय प्रमुख है। यदि उपभोक्ता की आय बढ़ती है तो उसकी क्रय शक्ति में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में वृद्धि होती है जबकि इसके विपरीत आय का निम्न स्तर या कमी विभिन्न वस्तुओं की माँग में कमी करता है।

(2) उपभोक्ता की रूचि एवं फैशन–उपभोक्ता की रूचि एवं फैशन भी विभिन्न वस्तुओं की माँग को प्रभावित करती है। जिन वस्तुओं के उपभोग की रूचि एवं फैशप उपभोक्ता को होती है उन्हीं की माँग बढ़ती है जबकि दूसरी वस्तुओं की माँग नहीं बढ़ती है।

(3) धन का वितरण–धन का वितरण समाज में सम है या विशम,यह भी वस्तुओं की माँग को प्रभावित करता है। यदि धन एवं आय का वितरण समान है तो निर्धन एवं धनी दोनों वर्ग ही विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग करते हैं एवं कुल माँग में वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि धन एवं आय का वितरण विसम है उस स्थिति में कुल माँग में कमी होगी।

(4) वस्तु का मूल्य–वस्तु का मूल्य भी माँग को प्रभावित करता है। अन्य बातें समान रहते हुए यदि किसी वस्तु की कीमत गिर जाती है तो उसकी माँग बढ़ेगी तथा उसकी कीमत बढ़ने पर उसकी माँग घटेगी।

(5) व्यापार चक्र–व्यावसायिक जगत में उच्चावचनों (Fluctuation) के कारण भी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग प्रभावित होती है। तेजीकाल में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि होने के कारण वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग बढ़ती है जबकि मंदीकाल में सभी आर्थिक क्रियाओं में मंदी आ जाने से बेरोगारी फैलती है तथा सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग घट जाती है।

(6) भौगोलिक वातावरण–भौगोलिक वातावरण विशेष कर जलवायु भी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ गर्मियों की अपेक्षा सर्दियों में अनेकानेक वस्तुओं की माँग में

वृद्धि होती है। इसी प्रकार ठंडे प्रदेशों में निवास करने वालों की गर्म देशों की तुलना में अधिक आवश्यकताएँ होती हैं।

(7) जनसंख्या– जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में वृद्धि होती है तथा जनसंख्या की कमी होने पर वस्तओं की माँग में भी कमी आ जाती है।

(8) सरकारी–सरकारी नीति भी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग को प्रभावित करती है। जिन वस्तुओं का वितरण राशनिंग द्वारा किया जाता है उनकी माँग में वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसके साथ ही यदि किसी वस्तु के उत्पादन पर उत्पादन कर लगा दिया जाता है तो इससे वस्तु की कीमत बढ़ेगी तथा कीमत बढ़ने से माँग घटेगी। यदि सरकार किन्हीं वस्तुओं के उपभोग बढ़ाने हेतु उपभोक्ताओं को अनुदान राशि देती है तो इससे इस प्रकार की वस्तुओं की माँग बढ़ेगी।

(9) भावी मूल्य वृद्धि की आशंका–यदि वस्तुओं के मूल्य में भविष्य में वृद्धि होने की आशंका है तो उनकी माँग बढ़ जायेगी तथा इसके विपरीत कीमत घटने की संभावना है तो इनकी माँग घट जायेगी।

इस प्रकार माँग आन्तरिक तथा व्राह्म तत्वों से प्रभावित होतीह है।

पिछले पृश्ठों में हमने माँग एवं माँग के नियम का अध्ययन किया है जिसके अन्तर्गत माँग का नियम केवल यह बताता है कि मूल्य के बढ़ने और घटने पर माँग पर कैसा प्रभाव पड़ता है। माँग का नियम यह स्पष्ट नहीं करता है कि मूल्य में वृद्धि एवं कमी से मॉग में कमी या वृद्धि होती है। जबकि अनेक कारणों से यह जानकारी आवश्यक हैं इस जानकारी का अध्ययन माँग की लोच के अन्तर्गत किया जाता है। इससे हमें जानकारी मिलती है कि वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के फलस्वरूप उस वस्तु की माँग में कितना परिवर्तन होता है।

$$\text{अथवा } ep = \frac{\Delta X/X}{\Delta P/p}$$

का लोच की परिभाषा विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न तरह से दी है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैंः

(1) प्रो. मार्शल (Marshall)के अनुसार''किसी बाजार में माँग की लोच का कम या अधिक होना इस बात पर निर्भर है कि मूल्य में एक निश्चित कमी होने से माँग अधिक बढ़ती है या कम और मूल्य में एक निश्चित वृद्धि होने से माँग घटती है या बढ़ती है।''

(2) प्रो. सैम्युलसन (Samuelson)के शब्दों में, ''माँग की लोच का आशय बाजार कीमत में परिवर्तन के कारण माँग की मात्रा में परिवर्तन की मात्रा अर्थात् माँग में प्रतिक्रियात्मकता के अंश या मात्रा को बताता है। यह मुख्यतया प्रतिशत परिवर्तनों पर निर्भर करता है और कीमत तथा माँग की मात्रा को मापने में प्रयोग की जाने वाली इकाइयों से स्वतन्त्र होता है।''

(3) प्रो. मेयर्स (Meyers)के अनुसार,''माँग की लोच किसी दी हुई माँग वक्र पर कीमत में हुए सापेक्षिक परिवर्तन के फलस्वरूप खरीदी गई मात्रा में सापेक्षिक परिवर्तन की माप है।''

(4) श्रीमती जोन रॉबिन्सन (Mrs. Joan Robinson)के अनुसार,'' माँग की लोच,कीमत में थोड़े परिवर्तन के परिणामस्वरूप खरीदी गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन की कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है।''

श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने इसकी व्याख्या निम्नांकित सूत्र से की है :

$$\text{माँग की लोच;ep)} = \frac{\text{माँग में अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में अनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$\text{अथवा ep} = \frac{\Delta X/X}{\Delta P/p}$$

$$\frac{\Delta X/X}{\Delta P/p}$$

उपर्यक्त समीकरण में $_{\Delta}X=X$ वस्तु की माँग में परिवर्तन

X=X वस्तु की प्रारम्भिक माँग

$_{\Delta}P=$ कीमत में परिवर्तन की मात्रा

P= प्रारम्भिक कीमत

(5) प्रो. बॉडिंल्ग (K.E.Boulding)ने माँग की लोच को गणितीय ढंग से परिभाशित किया है। इनके अनुसार,'' किसी वस्तु की कीमत में एक प्रतिशत परिवर्तन के फलस्वरूप उस वस्तु की माँग में जो प्रतिशत होगा उसे माँग की लोच कहते हैं।''

समीकरण के रूप में–

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

अथवा

$$ep = \frac{\text{Per cent Change in Demand}}{\text{Per cent Change in Price}}$$

उपर्यक्त परिभाषाओंसे स्पष्टहै कि वस्तु की कीमत में कमी एवं वृद्धि होने से माँग में जो वृद्धि एवं कमी होने की प्रकृति पाई जाती है तथा इसकी माप की जाती है, उसे माँग की लोच कहते हैं।

माँग की लोच के प्रकार

(Types of Elasticity of Demand)

इसी अध्याय में माँग के तीन भेद बताये गये थे। उदाहरणार्थ मूल्य माँग ,आय माँग एवं आड़ी या तिरछी माँग । इसी आधार पर माँग की लोच के निम्न तीन प्रकार हैः

(1) माँग की कीमत लोच (Price Elasticity of Demand)

(2) माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)

(3) माँग की आड़ी लोच (Cross Elasticity of Demand)

(1) माँग की कीमत लोच (Price Elasticity of Demand)–माँग की कीमत लोच से आशय है किसी वस्तु की कीमत में जो परिवर्तन होते हैं उन परिवर्तनों से वस्तु की माँग पर क्या प्रभाव होते हैं। दूसरे शब्दों में माँग की कीमत लोच के अन्तर्गत माँग में केवल उस परिवर्तन का अध्ययन शामिल है जो कीमत से फलित होता है। मूल्य के परिवर्तन का प्रभाव सभी वस्तुओं पर समान रूप से नहीं पड़ता है। मूल्य परिवर्तनों से कुछ वस्तुओं की माँग अत्यधिक प्रभावित होती है तो कुछ की अधिक। इसी आधार पर हम माँग की कीमत लोच को अग्रांकित पॉच श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं:

(प) पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand)

(पप) अधिक लोचदार माँग (More Elastic Demand)

(पपप) इकाई के बराबर माँग की लोच (Unitary Elastic Demand)

(पअ) अधिक बेलोचदार माँग (More Inelastic Demand)

(अ) पूर्णतया बेलोचदार माँग (Perfectly Inelastic Demand)

इनका विवरण इस प्रकार है:

(प) पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand)–पूर्णतया लोचदार माँग की लोच से आशय है जब किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के बिना भी माँग में घट–बढ़ हो जाती है। इस लोच के सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मूल्य में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों से वस्तु की माँग में अत्यधिक परिर्तन आ जाता है तो ऐसी वस्तु की माँग की लोच पूर्णतया लोचदार माँग होगी। माँग की लोच की इस श्रेणी को निम्न चित्र से दर्शाया जा सकता है।

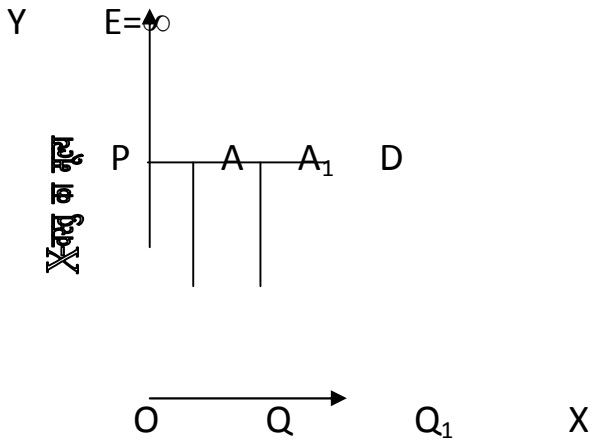

X–वस्तु की मात्रा

चित्र–11

उपर्युक्त चित में X–अक्ष पर वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा तथा Y–अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। OP मूल्य पर वस्तु की माँग OQ है। परन्तु वस्तु के मूल्य में बिना परिवर्तन हुए ही जब वस्तु का मूल्य पूर्ववत् OP के बराबर रहता है तो वस्तु की माँग अचानक बढ़कर OQ_1 तक पहुँच जाती है। इस प्रकार की माँग व्यावहारिक जीवन में नहीं पायी जाती है क्योंकि मूल्य में बिना परिवर्तन हुए ही वस्तु की माँग में अनन्त वृद्धि हो जाती है। इसलिए इस प्रकार की माँग की लोच पूर्णतया लोचदार माँग अथवा म्त्र∞ होगी।

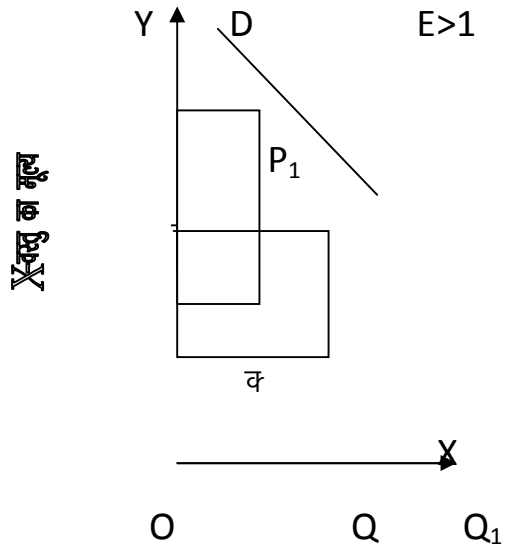

X–वस्तु की मात्रा

(पप) अधिक लोचदार माँग (More Elastic Demand)–जब कभी किसी वस्तु के मूल्य में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा माँग में होने वाला आनुपातिक परिवर्तन अधिक हो जाता है,तब

इस प्रकार की माँग की लोच को अधिक लोचदार कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु के मूल्य में 10 प्रतिशत परिवर्तन से उसकी माँग 15 प्रतिशत बढ़ जाये तो यह स्थिति अधिक लोचदार माँग की होगी। इसकी व्याख्या निम्न चित्र से की जा सकती है। इस चित्र में माँग वक्र DD अधिक लोचदार माँग की स्थिति को दर्शाता है। जब वस्तु की कीमत OP है तो इसकी माँग मात्रा वक है। मूल्य OP से बढ़कर OP_1 हो जाता है तो उसकी माँग मात्रा घट कर OQ से OQ_1 हो जाती है। मूल्य में होने वाले परिवर्तन की तुलना में वस्तु की मांग की मात्रा में अधिक परिवर्तन हुआ है। इस मांग की लोच को E>1 कहेंगे।

(iii) इकाई के बराबर माँग की लोच (Unitary Elastic Demand)–जब किसी वस्तु के मूल्य में होने वाला परिवर्तन उस वस्तु की माँग के आनुपातिक परिवर्तन के बराबर हो तो ऐसी वस्तु की माँग की लोच इकाई के बराबर होगी और इसे इकाई के बराबर माँग की लोच कहते हैं। उदाहरणार्थ वस्तु की कीमत में 10 प्रतिशत परिवर्तन होने पर वस्तु की माँग में भी 10 प्रतिशत की परिवर्तन हो तो माँग की लोच इकाई के बराबर होगी। इस व्याख्या को निम्न चित्र–13 से स्पष्टकिया जा सकता हैः

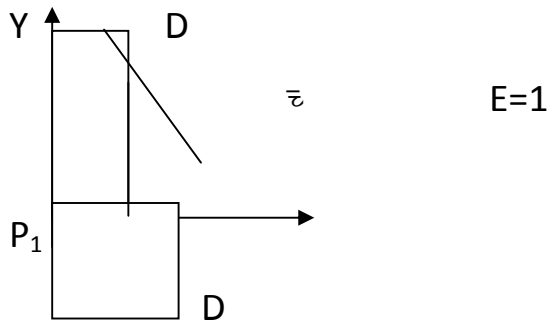

वस्तु की मात्रा

चित्र–13

चित्र में OP कीमत पर वस्तु की माँग OQ है तथा कीमत में OP से OP_1 की कमी होने पर माँग मात्रा में भी OQ से OQ_1 वृद्धि हो जाती है। दोनों में परिवर्तन बराबर–बराबर होने से इस प्रकार की माँग की लोच इकाई के माँग की लोच कहते हैं। इसे E=1 से भी इंगित किया जाता है।

(पअ) अधिक बेलोचदार माँग (More Inelastic Demand)–अधिक बेलोचदार माँग की लोच को हम बेलोचदार माँग की लोच भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तन की तुलना में इसकी मांग में होने वाले परिवर्तन की मात्रा कम होती है तो यह अधिक बेलोचदार माँग होगी। उदाहरणार्थ कीमत में 20 प्रतिशत परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग मात्रा में केवल 10 प्रतिशत परिवर्तन होता है तो यह अधिक बेलोचदार माँग कहलाती है। इस प्रकार की माँग की लोच आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं में पायी जाती है। इसकी व्याख्या निम्न चित्र से की जा सकती हैः

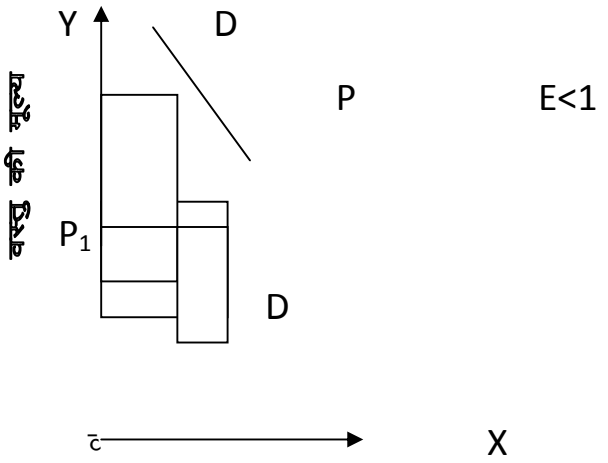

चित्र–14

चित्र संख्या 14 में OP कीमत पर वस्तु की OQ मात्रा का क्रय किया जाता है। जब कीमत घटकर OP_1 हो जाती है तो माँग OQ से बढ़कर OQ_1 हो जाती है। लेकिन कीमत में होने वाले

आनुपातिक परिवर्तन की तुलना में वस्तु की माँग में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन की मात्रा कम है। इस प्रकार की स्थिति को हम बेलोच माँग की लोच (E<1) कहेंगे।

(अ) पूर्णतया बेलोचदार माँग (Perfectly Inelastic Demand)–पूर्णतया बेलोचदार माँग का व्यवहार में कोई महत्व नहीं है। पूर्णतया बेलोच माँग की लोच वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत वस्तु की कीमत में परिवर्तन का उसकी माँग मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् माँग मात्रा यथावत् रहती है। नमक की माँग का उदाहरण इस प्रकार की लोच के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस माँग की लोच को निम्न चित्र से स्पष्टकिया जा सकता हैः

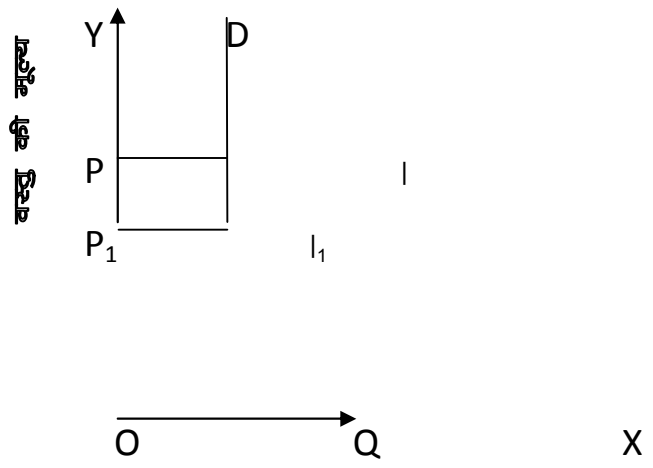

चित्र 15

इस चित्र में कीमत OP पर वस्तु की माँग मात्रा OQ है तथा कीमत घटकर OP से OQ_1 होने पर भी वस्तु की माँग मात्रा यथावत् रहती है अर्थात् वस्तु के मूल्य में होने वाला परिवर्तन वस्तु की माँग मात्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता है। यह माँग की लोच पूर्णतया बेलोचदार (E=0) होगी।

(2)माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)–उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप वस्तु की माँग में होने वाले परिवर्तनों की माप को माँग की आय लोच कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि माँग में हुए आनूपातिक परिवर्तन को आय में हुए

आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर माँग की आय लोच प्राप्त की जाती है। आय लोच को मापने हेतू निम्न सूत्र का उपयोग किया जा सकता हैः

वस्तु की माँग में आनुपातिक परिवर्तन

(ei)= ——————————————

आय में आनुपातिक

उदाहरणार्थ यदि आय में 10 प्रतिशत परिवर्तन पर वस्तु की माँग की मात्रा में 20 प्रतिशत परिवर्तन आता है तो ऐसी दशा में माँग की आय लोच (20/10)2 होगी अर्थात् माँग की लोच इकाई से अधिक है।

(3)माँग की आड़ी लोच (Cross Elasticity of Demand)–एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का प्रभाव जब दूसरी वस्तु की माँग पर पड़ता है तो हम उसे माँग की आड़ी लोच कहते हैं। उदाहरणार्थ X तथा Y दो वस्तुएँ हैं। माँगी कीमत लोच में केवल उसी कीमत (X वस्तु) का उसी वस्तु (Y वस्तु)की माँग पर प्रभाव पड़ता है लेकिन आड़ी लोच में Y वस्तु की कीमत में परिवर्तन का X वस्तु की माँग पर पड़ने वाले प्रभाव का आनुपातिक अध्ययन किया जाता है। इस माँग की लोच को निम्नांकित सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है :

वस्तु की माँग में आनुपातिक परिवर्तन

(ei)= ——————————————

वस्तु की कीमत में आनुपातिक परिवर्तन

उपभोक्ता की दृष्टि से इस प्रकार की वस्तुएँ स्थानापन्न तथा पूरक हो सकती हैं। पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में जब एक वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है तो दूसरी वस्तु की माँग कम कर दी जाती है। इसके विपरीत स्थानापन्न वस्तुओं में एक वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर दूसरी वस्तु की माँग बढ़ जाती है।

माँग की लोच को मापने की विधियॉ

(Methods of Measuring Elasticity of Demand)

माँग की लोच की श्रेणियों के अन्तर्गत केवल इस तथ्य का अध्ययन किया जाता है कि माँग की लोच अधिक है अथवा कम है तो वह कितनी कम अथवा अधिक है। अतएव माँग की लोच निश्चित जानकारी ज्ञात करने हेतू माँग की लोच का माप आवश्यक है। माँग की लोच की माप की निम्न तीन विधियॉ हैं :

(1) कुल व्यय रीति (Total Outlay Method)

(2) प्रतिशत या आनुपातिक रीति (Percentage Method)

(3) बिन्दु रीति (Point Method)

(1) कुल व्यय रीति (Total Outly Method)–माँग की लोच की माप की इस रीति के प्रतिपादन का श्रेय प्रो.मार्शल को है। इस रीति के आधार पर इस बात की जानकारी प्राप्त हो सकती है कि माँग की लोच यदि इकाई से कम है तो वह कितनी कम है और अधिक है तो वह कितली अधिक है। इसे नीचे दिये उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता हैः

(प) माँग की लोच इकाई से अधिक तब होगी जब वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने के साथ–साथ वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कुल व्यय मूल्य–परिवर्तन से विपरीत दिशा में चलने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ जब किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने पर कुल व्यय की मात्रा बढ़ती है या मूल्य में वृद्धि होने से कुल व्यय की मात्रा घटती है तो किसी स्थिति में माँग की लोच 'इकाई से अधिक (E>1) होगी। इसे निम्न तालिका से स्पष्टकिया जा सकता है :

वस्तु का मूल्य (रूपये में)	वस्तु की माँग (किलोग्राम में)	कुल व्यय (रूपये में)	माँग की लोच
12	10	120	
11	12	132	E>1
10	16	150	

उपर्युक्त सारणी से स्पष्टहै कि वस्तु की कीमत में कमी होने के साथ–साथ वस्तु के उपभोक्ता का कुल व्यय बढ़ता जाता है। अतः माँग की लोच इकाई से अधिक होती है। प्रारम्भिक व्यय की मात्रा का भाग अन्तिम कुल व्यय की राशि में दिया जाने से यह माँग की लोच ज्ञात की जा सकती है। यदि माँग की लोच इकाई से अधिक है–

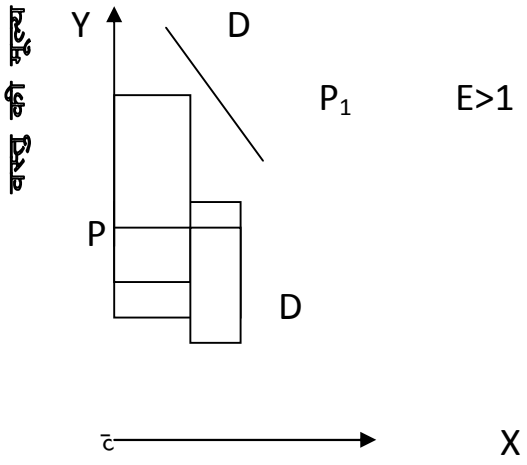

वस्तु की मात्रा

चित्र–16

150

(ei)= —=1.25 इसे निम्न रेखाचित्र की सहायता से भी प्रदर्शित किया जा सकता है।

120

(पप) इकाई के बराबर माँग की लोच तब कही जायेगी जब कीमत में परिवर्तन होने पर भी कुल व्यय की मात्रा यथावत् रहे अर्थात् किसी प्रकार का कुल व्यय में परिवर्तन न हो। इसे निम्न तालिका से स्पष्टकिया जा सकता है :

वस्तु का मूल्य	**वस्तु की माँग**	**कुल व्यय**	**माँग की लोच**
12 रूपये	11किलोग्राम	132 रूपये	म्त्र1
11रूपये	12किलोग्राम	132 रूपये	

उपर्युक्त सारणी से स्पष्टहै कि वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर भी उस वस्तु पर किये जाने वाले कुल व्यय की राशि यथावत् रहती है।

माँग की लोच इकाई के बराबर है

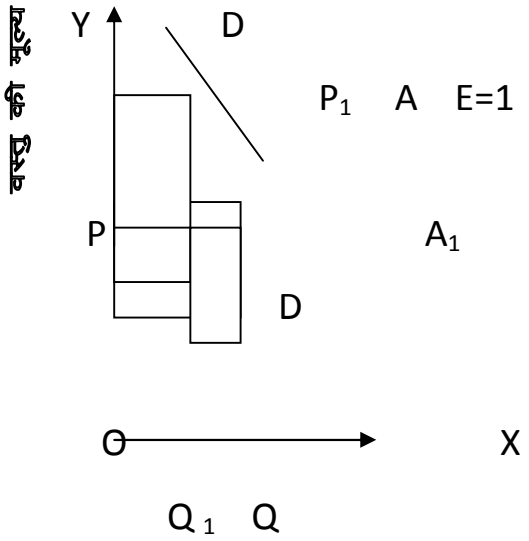

वस्तु की मात्रा

चित्र–17

132

ep = =1,E=1निम्न रेखाचित्र से दर्शाया जा सकता है।

132

वस्तु की कीमत में जिस अनुपात में परिवर्तन होता है,ठीक उसी अनुपात में वस्तु की माँग में परिवर्तन होता है।

(पपप) अधिक बेलोचदार माँग की लोच अथवा इकाई से कम माँग की लोच तब कही जा सकती है जब मूल्य में परिवर्तन होने के साथ–साथ कुल व्यय की मात्रा घटती जाती है अर्थात् कुल व्यय उसी दिशा में मूल्य में परिवर्तन होता है अर्थात् मूल्य एवं कुल व्यय में विपरीत सम्बन्ध है। वस्तु के मूल्य में कमी होने पर कुल व्यय घटता है और मूल्य में वृद्धि होने पर कुल व्यय बढ़ जाता है। इस स्थिति को इकाई से कम माँग की लोच कहा जाता है। इसे निम्न सारणी से स्पष्टकिया जा सकता है :

वस्तु का मूल्य	वस्तु की माँग	कुल व्यय	माँग की लोच
10रूपये	10किलोग्राम	100 रूपये	म्ढ1
11रूपये	11किलोग्राम	88 रूपये	

डपर्युक्त सारणी से स्पष्टहै कि वस्तु के मूल्य में कमी होने से उस पर किया गया कुल व्यय भी घटता हैं इसे इकाई से कम माँग की लोच कहते हैं।

$$\text{माँग की लोच इकाई से कम है } ep = \frac{88}{100} = .88, E<1$$

इसे निम्न रेखाचित्र से भी दर्शाया जा सकता है :

इस चित्र से स्पष्ट है कि जिस अनुपात में वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है उसे अनुपात से कम परिवर्तन वस्तु की माँग की मात्रा में होता है।

प्रो.मार्शल द्वारा प्रतिपादित मॅाग की लोच को मापने की कुल व्यय रीति के आधार पर माँग की लोच को निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :

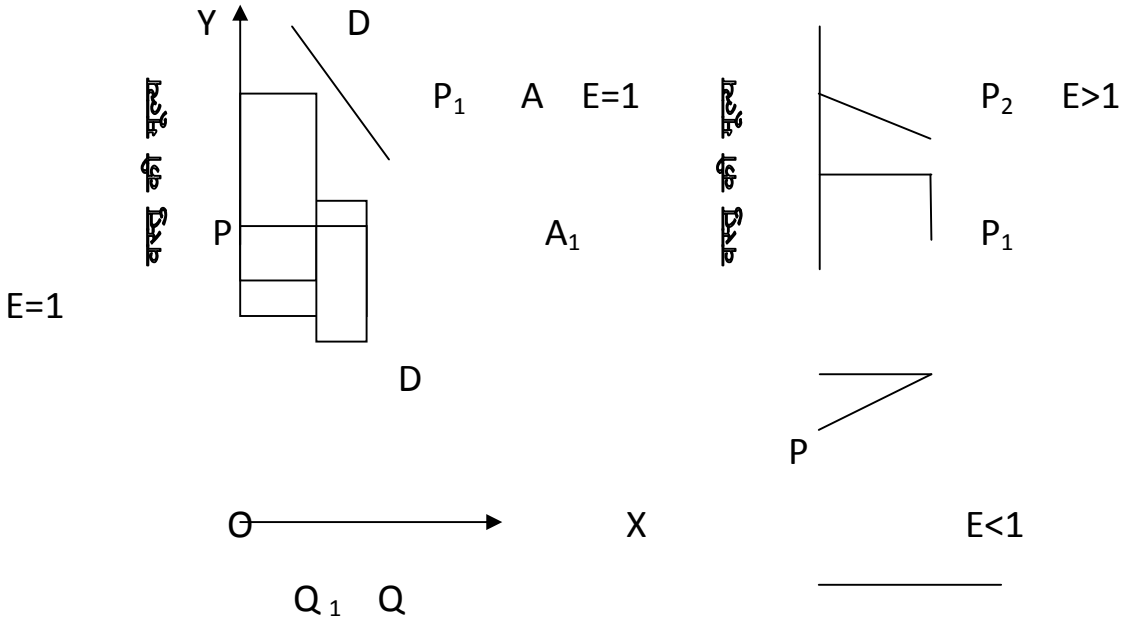

वस्तु की मात्रा कुल व्यय

चित्र–18 **चित्र–19**

इस चित्र में OY– अक्ष पर वस्तु का मूल्य तथा OX–अक्ष पर कुल व्यय मात्रा को दर्शाया गया है। चित्र तीन भागों में विभाजित किया गया है–

(i)जब वस्तु का मूल्य OP_2 से नीचे गिरता है त्यों–त्यों वस्तु का कुल व्यय बढ़ जाता है इसलिए माँग की लोच इकाई से अधिक E>1 होती है।

(ii)जब वस्तु का मूल्य OP_1 से OP जाता है तब वस्तु पर किया जाने वाला व्यय बराबर अथवा यथास्थिर रहता है। इसलिए माँग की लोच इकाई के बराबर (E=1) होती है।

(iii)जब वस्तु का मूल्य OP से नीचे गिरता है तो वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय घटता है, ऐसी दशा में वस्तु की माँग की लोच इकाई से कम (E<1)होती है

(2) प्रतिशत या आनुपातिक रीति (Percentage Method)–आनुपातिक रीति की प्रतिशत रीति भी कहा जाता है। प्रो.फ्लक्स (Prof.Flux) ने इस रीति का प्रथम बार प्रयोग किया थां इस रीति के अनुसार माँग में अनुपातिक परिवर्तन में कीमत में अनुपातिक परिवर्तन का भाग देने से माँग की लोच ज्ञात की जा सकती है। माँग की लोच को निम्न सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है :

वस्तु में आनुपातिक परिवर्तन

(ei)= ——————————

कीमत में आनुपातिक परिवर्तन

माँग में परिवर्तन ——————

पूर्ववत् माँग

अथवा**=** ——————

कीमत में परिवर्तन

——————

पूर्ववत् कीमत

$$\frac{\Delta Q}{Q}$$

अथवा=

$$\frac{\Delta P}{P}$$

$$\frac{\Delta Q/P}{\Delta P/Q}$$

अथवा =

इसमेंΔQ = मॉग में परिवर्तन

Q = प्रारम्भिक माँग

ΔP= कीमत में परिवर्तन

P= पूर्ववत् कीमत

उपर्युक्त माँग की लोच की माप का समीकरण त्रुटिपूर्ण होने के कारण सही सूत्र निम्न होगा :–

माँग में आनुपातिक परिवर्तन

(ei)=

कीमत में आनुपातिक परिवर्तन

माँग की मात्रा में परिवर्तन

माँग की पूर्व मात्रा. माँग की नई मात्रा

$$= \frac{}{2}$$

कीमत में परिवर्तन

पूर्व कीमत. नई कीमत

$$\frac{}{2}$$

उपर्युक्त समीकरण को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है–

$$\frac{Q_1-Q_2}{\frac{Q_1+Q_2}{2}}$$

$$ep=\frac{P_1-P_2}{\frac{P_1+P_2}{2}}$$

इसमें Q_1=माँग की पूर्व मात्रा

Q_2=माँग की नई मात्रा

P_1= पूर्व कीमत

P_1=नई कीमत

डदाहरणार्थ एक वस्तु का मूल्य 4 रूपये था तथा माँग मात्रा 40 इकाइयॉ थीं तथा वस्तु की कीमत 8 रूपये होने पर माँग की मात्रा 30 इकाइयॉ हो जाती है। इस उदाहरण के अनुसार–

$$ep=\frac{\frac{40.30}{40}}{\frac{4.8}{4}}=\frac{10}{\frac{70}{12}}$$

$$ep=\frac{\frac{7}{1}}{\frac{1}{3}}=\frac{1}{7}\times\frac{3}{1}=\frac{3}{7}=0.43$$

माँग की लोच इकाई से कम (E<1) है।

(3) बिन्दु रीति (Point Method)–माँग की लोच की इस रीति को गणितीय रीति भी कहते हैं। इसका प्रयोग प्रो. बोल्डिग ने किया है। इस रीति को सहायता से ज्ञात किया जा सकता है कि किस बिन्दु की माँग की लोच कितनी है। इसे निम्न चित्र की सहायता से दर्शाया जा सकता है :

उपुर्यक्त चित्र में क्क माँग वक्र है। माँग वक्र पर **A** बिन्दु पर माँग की लोच को मापना है। इसलिए AB रेखा ऐसी खींची गई है जो A बिन्दु को स्पर्श करती है। इस A बिन्दु पर वस्तु का मूल्य OP है तथा वस्तु की माँग OQ है। माना कि वस्तु की कीमत गिरकर OP से OP हो जाती हैA यहॉ माँग बढ़कर OQ से OQ हो जाती है। यहॉ माँग में होने वाला परिवर्तन कीमत में होने वाला परिवर्तन की तुलना में अधिक है। माँग के बढ़ने पर वक्र पर A खिसक कर A हो जाता है। माँग में जो अतिरिक्त वृद्धि हो रही है वह व्क के बराबर है। माँग की लोच को मापने हेतू हम A बिन्दु के स्थान पर E बिन्दु को लेते हैं। इससे अध्ययन में अन्तर नहीं आता है क्योंकि A बिन्दु का ढाल समान है। अतः अब निम्न सूत्र के अनुसार माँग की माप की जा सकती हैः

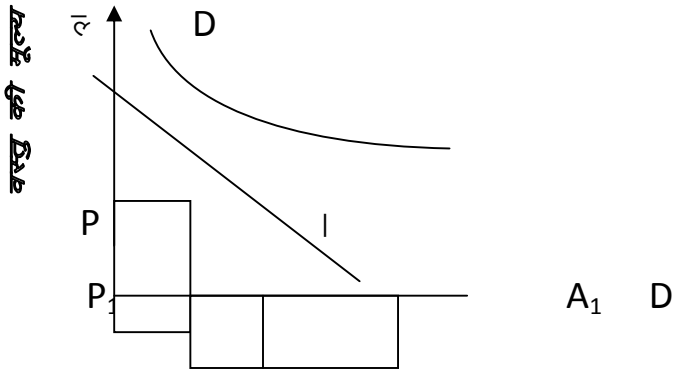

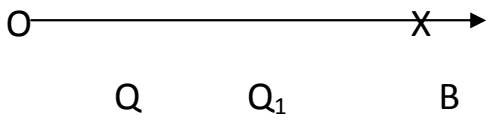

X-वस्तु की मात्रा

चित्र–20

माँग में आनुपातिक परिवर्तन

(ei)= ——————————————

कीमत में आनुपातिक परिवर्तन

माँग मे परिवतर्तन

अथवा = ——————————

पूर्ववत् माँग

कीमत में परिपर्तन

पूर्ववत् कीमत

$$\frac{QB}{OQ} = \frac{AB}{AA_1}$$

क्योंकि त्रिभुज OAB की सभी भुजाएँ समान हैं, अतः

$$: ep = \frac{AB}{AA_1}$$

उपर्युक्त सूत्र की सहायता से हम किसी भी बिन्दु पर माँग की लोच को ज्ञात कर सकते हैं। इसमें रेखा के नीचे वाले भाग को ऊपर वाले भाग से विभाजित किया जा सकता है और जो भजनफल आता है वह माँग की लोच को दर्शाता है। इसे निम्न चित्र से स्पष्ट किया जा सकता हैः

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि AB माँग वक्र पर P बिन्दु पर माँग की लोच अनन्त है तथा P_4 बिन्दु पर माँग की लोच शून्य है। P_1 बिन्दु पर माँग की लोच इकाई से अधिक है क्योंकि P_1 B अर्थात् E>1 है। P_2 बिन्दु पर माँग की लोच इकाई के बराबर है,क्योंकि

P_1 ।

P_2 B , यहॉ P_2 B की दूरी के ही बराबर P_2 A, की दूरी है। इसलिए माँग की लोच E=1 है।

च$_2$ ।

P_3B , इसलिए E1 है।

P_3 B

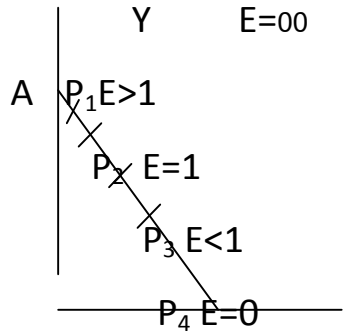

O

ग

माँग की लोच के निर्धारक तत्व

(**Determinants of the Elasticity of Demand**)

मुख्य रूप से माँग की लोच को निम्न तत्व निर्धारित करते हैं:

(1)**वस्तु के गुण**(Quality of Commodity)–वस्तु के गुण से भी माँग की लोच प्रभावित होती है। जो वस्तुएँ मनुष्य के लिए अनिवार्य होती हैं तथा जीवन रक्षा हेतु आवश्यक है उन वस्तुओं की माँग की लोच बेलोच होती है। ऐसी व्सतुओं की कीमतों में वृद्धि या कमी का इनकी माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सुविधाओं (Comfort) की माँग की लोच औसत श्रेणी की होती है। यह लोच साधारणतया लोचदार होती है क्योंकि इन वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन इनकी माँग को अधिक प्रभावित करता है। विलासिताओं (Luxurie) की माँग की लोच अत्यधिक लोचदार होती है। इनकी कीमत में थोड़ा सा परिवर्तन भी वस्तु की माँग को बहुत अधिक प्रभावित करता है। अतः हम कह सकते हैं कि माँग की लोच को वस्तु के गुण भी प्रभावित करते हैं।

(2)**वस्तु के उपयोग**(Use of Commodity)–जिन वस्तुओं के एक से अधिक उपयोग किये जा सकते हैं उनकी माँग की लोच अधिक लोचदार होती है। उदाहरणार्थ बिजली घरेलू एवं औद्योगिक उपयोंगो में काम में आती है। यदि इसकी दरों में कमी कर दी जाती है तो कई घरेलू उपयोगों में इसका प्रयोग बढ़ने से इसकी माँग बढ़ेगी तथा इसके विपरीत बिजली की दरों में वृद्धि होने पर इसके कई उपयोग कम कर दिये जावेंगे एवं इनकी माँग में कमी आ जायेंगी। अतः जिस वस्तु के अनेकानेक प्रयोग होते हैं उसकी माँग की लोच लोचदार होती है तथा जितने कम प्रयोग होते हैं वस्तु की माँग उतनी ही बेलोचदार होगी।

(3)**वस्तु की कीमत** (Price of Commodity)–वस्तु की कीमत का प्रभाव भी माँग की लोच को प्रभावित करता है। प्रो.**मार्शल** के अनुसार, '' ऊँची कीमत पर माँग की लोच अधिक होती है,मध्य कीमतों के लिए पर्याप्त होती है तथा ज्यों–ज्यों कीमतें घटती हैं त्यों–त्यों माँग की लोच भी घटती जाती है तथा कीमतें इतनी गिर जायें कि तृप्ति की सीमा आ जाय तो लोच धीरे–धीरे समाप्त हो जाती है।

लेकिन इसके कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ धनी वर्ग के लिए ऊँची कीमतों वाली बहुमूल्य वस्तुएँ हीरे,जवाहरात आदि भी बेलोच माँग की लोच के अन्तर्गत आती हैं। इन वस्तुओं के मूल्यों में कमी–वृद्धि होने पर भी माँग पर उतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है।

(4)धन के वितरण का स्वरूप –धन का वितरण समाज में कैसा है,का भी माँग की लोच पर प्रभाव पड़ता है। समाज में धन के वितरण की समानता होने पर माँग की लोच लोचदार होती है। इसके विपरीत जब धन का असमान वितरण होता है तब माँग की लोच बेलाच होती है। कीमत में थोड़ी सी वृद्धि या कमी धनी वर्ग की माँग पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालती है। जबकि निर्धन वर्ग के लिए लोच सामान्यतया बेलोचदार ही रहती है क्योंकि वे केवल आवश्यकता की वस्तुएँ ही खरीदते हैं। परन्तु धन के समान वितरण से लगभग सभी व्यक्तियों की क्रय शक्ति ठीक होती है और कीमतों में वृद्धि या कमी का सब लोगों पर प्रभाव पड़ता है अतः माँग लोचदार हो जाती है।

(5)आय स्तर–आय स्तर से भी माँग की लोच प्रभावित होती है। आय के स्तर में वृद्धि के साथ–साथ माँग की लोच बेलोच हो जाती है। धनी वर्ग के लिए वस्तुओं की माँग की लोच बेलोच होती है जबकि निर्धन वर्ग के लिए माँग की लोच बेलोचदार होती है क्योंकि इस वर्ग की माँग पर कीमतों के परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ता है।

(6)संयुक्त माँग –कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी माँग उनके साथ–साथ की जाती है। उदाहरणार्थ चीनी व चाय, सिगरेट व माचिस,स्याही व पैन, मक्खन व डबल रोटी। यदि इन वस्तुओं में एक की कीमत में कमी तथा दूसरी वस्तु की कीमत में वृद्धि हो जाती है तो ऐसी स्थिति में दूसरी वस्तु की माँग बेलोचदार हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि क्रिकेट के बल्ले का मूल्य पूर्ववत् रहे परन्तु क्रिकेट बॉल का मूल्य बढ़ जाती है।तो ऊँचें मूल्यों पर भी क्रिकेट बल्ले को क्रय कर लिया जायेगा। यहॉ क्रिकेट के बॉल की माँग की लोच बेलोच होगी।

(7)व्यक्ति का व्यवहार–व्यक्ति का व्यवहार या प्रकृति भी वस्तु की माँग की लोच को प्रभावित करती है। व्यक्ति का स्वभाव यदि किसी एक वस्तु के उपभोग करने का आदी हो जाता है तो इस वस्तु की माँग की लोच बेलोचदार होगी। इसके विपरीत जिन वस्तुओं का उपभोग यदा–कदा करता है उनकी माँग की लोच लोचदार होती है।

(8)समय का प्रभाव–माँग की लोच समय तत्व से भी प्रभावित होती है। जब कभी किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता है तो उसकी माँग पर उसका तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता है बल्कि इसका प्रभाव कुछ समय पश्चात पड़ता है। सामान्यतया समयावधि जितनी कम होगी वस्तु की माँग की लोच में वृद्धि होती जाएगी। समयावधि लम्बी होने पर उपभोक्ता स्थानापन्न वस्तुओं को ढूँढ़ लेता है तथा अन्य वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ जाता है।

माँग की लोच महत्व

(**Importance of the Elasticity of Demand**)

माँग की लोच के महत्व का अध्ययन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में किया जा सकता है। आगे दोन रूपों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा रहा हैः

(प)**सैद्धान्तिक महत्व**–सामान्यतया यह कहा जाता है कि माँग की लोच 'बहुतायत के बीच निर्धनता'की व्याख्या करती है। यदि किसी वर्ष मानसून अच्छा होने से कृशि उत्पादन अच्छा होने की सम्भावना होती है तो यह कहा जाता है कि किसानों को लाभ होगा। लेकिन ऐसा होता नहीं है क्योंकि फसल की माँग बेलोचदार होती है तो उस अनाज के मूल्यों में भारी कमी होगी। ऐसी स्थिति में कृशकों को अच्छी कीमतें नहीं मिलेंगी और ऐसी सम्भावना हो सकती है कि कृशकों को अनाज की उत्पादन लागत भी प्राप्त नहीं हो। इसके विपरीत यदि किसी वर्ष फसल खराब होने से उत्पादन कम हो जाता है उस फसल की माँग की लोच बेलोच होने पर कृशकों को अच्छी आय प्राप्त होगी।

(पप)**व्यापारिक महत्व**(Practial Importance)–माँग की लोच के व्यावहारिक महत्व का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है–

(1)**वित्त मंत्री के लिए महत्व**–वित्त मंत्री की लोच का प्रयोग निम्न दो स्थानों पर करता है–

(अ)करारोपण के समय–वित्त मंत्री की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसे अपने अनुमानानुसार आय प्राप्त होती है अथव नहीं। अतः वित्त मंत्री करारोपण करते समय वस्तुओं की माँग की लोच को मध्य–नजर रखता है। यही कारण है कि एक वित्त मंत्री बेलोच माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाता है। ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने से इसकी माँग पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है तथा उसे अनुमानित आय भी आसानी से प्राप्त हो जाती है। यदि लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कारारोपण किया जाता है तो इनकी माँग भी घटेगी तथा सरकार को अनुमानित आय भी प्राप्त नहीं हो सकेगी। अतः लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कम कर लगाये जाने चाहिए।

(ब)करारोपण का भार–वित्त मंत्री को करारोपण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर भार समाज के किस वर्ग पर पड़ेगा। कर लगाते समय जिन लोगों पर कर भार पड़ने का अनुमान लगाया था वास्तव में उन्हीं लोगों पर कर भार पड़ता है अथवा अन्य पर। सामान्यतः कर उत्पादकों पर लगाये जाते हैं और कर भार उपभोक्ताओं का वहन करना पड़ता है जो सरकारी अनुमान के विपरीत स्थिति को स्पष्टकरता है। अतः कर भार के समान वितरण हेतू माँग की लोच

का ध्यान रखना आवश्यक है। यदि किसी वस्तु की माँग की लोच बेलोच है तो उत्पादक कर लगाये गये कर का शत–प्रतिशत भाग उपभोक्ता पर डाला जावेगा और इससे वस्तु की कीमत बढ़ जायेगी। इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग की लोच लोचदार है तो उत्पादक कर उपभोक्ता पर नहीं डाल सकता है क्योंकि कीमत वृद्धि से वस्तु की माँग घट जावेगी। इसके परिणामस्वरूप कर भार उत्पादक द्वारा ही वही किया जायेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि बेलोच माँग वाली वस्तुओं पर लगाये गये कर का भार उपभोक्ता को वहन करना पड़ेगा तथा लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर लगाये गये कर का भार उत्पादक को स्वयं को वहन करना पड़ेगा।

(2)**मूल्य निर्धारण में महत्व**–मूल्य निर्धारण में माँग की लोच का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण में माँग एवं पूर्ति की अधिक शक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। किसी वस्तु की पूर्ति में वृद्धि या कमी के प्रभाव से उसकी कीमत कितनी बढ़ती या घटती है,यह उस वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करती है। यदि किसी वस्तु की माँग की लोच बेलोच हुई तो पूर्ति में वृद्धि या कमी वस्तु के मूल्य को लगभग उसी अनुपात में वृद्धि या कमी करती है। यदि माँग की लोच लोचदार हो तो पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव कम पड़ेगा तथा यदि माँग की लोच अधिक लोचदार हुई तो मूल्य का प्रभाव और भी कम पडेगा। इसे निम्न चित्र से स्पष्टकिया जा सकता है–

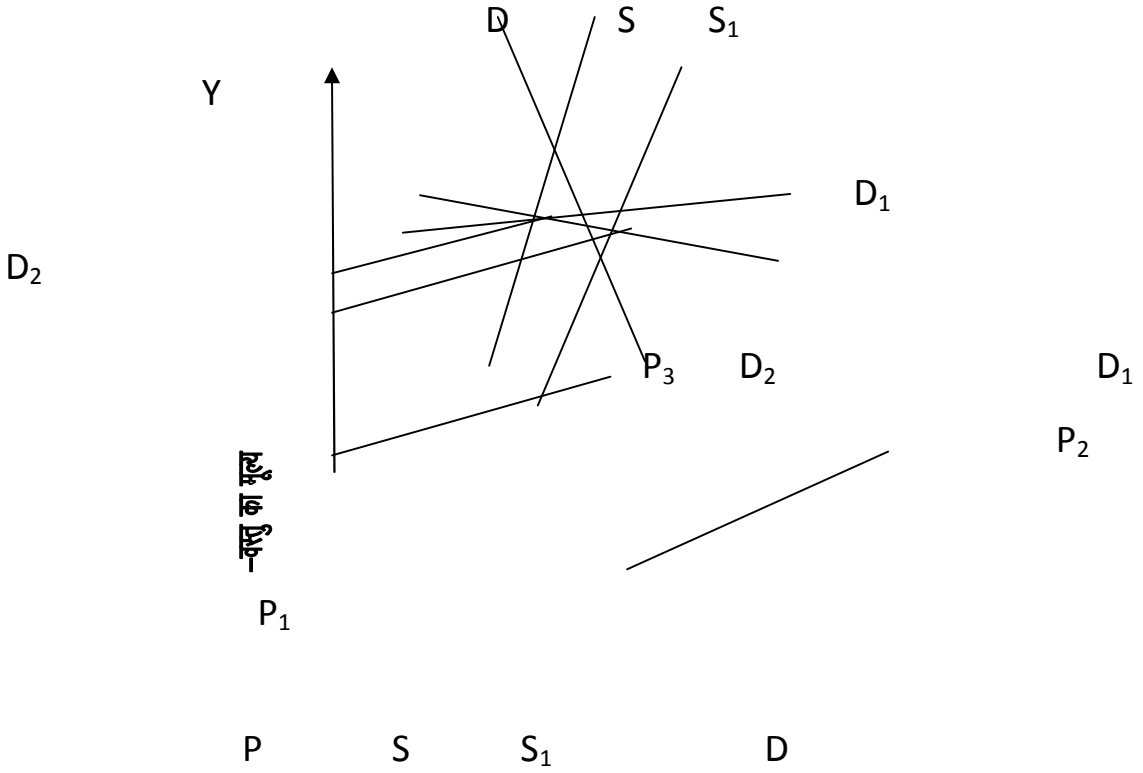

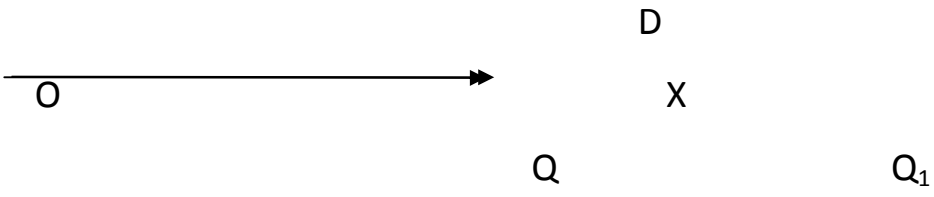

वस्तु की मात्रा

चित्र–22

उपर्युक्त चित्र में माँग वक्र बेलोच माँग को, D_1D_1 लोचदार माँग तथा D_2D_2 वक्र अधिक लोचदार माँग की स्थिति को बताती है। प्रारम्भ में वस्तु का मूल्य P_3 था, पूर्ति में वृद्धि होने पर यदि माँग DD (बेलोच) हो,तो मूल्य गिराकर व्व हो जाता है। वस्तु की माँग D_1D_1 होने पर वस्तु का मूल्य प्रारभिक मूल्य से कम होता है। परन्तु उतना कम नहीं होता है। जितना कि बेलोच माँग की लोच में हुआ था। जब वस्तु की माँग अधिक लोचदार अर्थात् D_2D_{12} होती है तो यहॉ वस्तु का मूल्य लोचदार माँग की लोच की तुलना में कम गिरता है। चित्र के अनुसार मूल्य में होने वाली कमी को OP_2 से दिखाया गया है,जो प्रारभिक मूल्य से कम गिरा है।

(3)एकाधिकारी के लिए महत्व(Importance of Monopoly)–माँग की लोच का महत्व एकाधिकारी के लिए भी है। एकाधिकारी वस्तु के मूल्य निर्धारण करते समय वस्तु की माँग की लोच को ध्यान में रखता है जिससे वह अपने अधिकतम लाभ प्राप्ति के उद्देश्य को प्राप्त कर सके। सामान्यतया जिन वस्तुओं की माँग की लोच बेलोच होती है, एकाधिकार उनकी कीमत ऊॅची रखता है क्योंकि मूल्य वृद्धि होने से उनकी माँग पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः वह मनमाना मूल्य वसूल करके अपने लाभ को अधिकतम करने में सफल हो जाता है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की माँग की लोच लोचदार होती है उनकी कीमत में थोड़ी सी वृद्धि उनकी माँग में अधिक कमी कर देती है और एकाधिकारी की वस्तुऍ बिक जाती हैं। अतः एकाधिकारी जिन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है उनकी कीमत में वृद्धि नहीं करेगा और जिन वस्तुओं की माँग की लोच बेलोच होगी उनमें कीमत वृद्धि करेगा तथा अपने अधिकतम लाभ के उद्देश्य की पूर्ति कर सकेगा।

(4)कीमत विभेद में महत्व(Importance in Price Discrimination)–कीमत विभेद के अन्तर्गत भी एकाधिकारी माँग की लोच को ध्यान में रखता है। एकाधिकारी एक ही वस्तु की विभिन्न उपभोक्ताओं से अलगा–अलग कीमतें वसूल करके विभेदात्मक नीति अपनाता है। कीमत विभेद के उद्देश्य की पूर्ति तभी की जा सकती है जबकि एकाधिकारी को भिन्न–भिन्न क्रेताओं की भिन्न–भिन्न बाजारों में माँग की लोच की जानकारी हो। जिस बाजार में वस्तुओं की मांग की लोच बेलोचदार होती होगी वहॉ वस्तुओं की कीमत एकाधिकारी ऊॅची रखेगा तथा इसके विपरीत वस्तु की माँग की लोच लोचदार होगी वहॉ वस्तुओं की कीमत रखी जायेगी। इस प्रकार भिन्न–भिन्न बाजारों में वस्तुओं की भिन्न–भिन्न माँग की लोच में भिन्न–भिन्न कीमतें निर्धारित करके एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करेगा।

(5) अन्तर्राश्ट्रीय व्यापार में महत्व(Importance in International Trade)–माँग की लोच का महत्व न केवल आन्तरिक व्यापा में ही है बल्कि इसका महत्व अन्तर्राश्ट्रीय व्यापार में भी है। यदि देश में विदेशों को होने वाले निर्यातों की माँग की लोच बेलोच होती है तो विदेशों में ऐसी वस्तुओं को ऊॅची कीमतों पर बेचा जा सकेगा। स्वदेश के लिए आयातों की माँग बेलोचदार होने पर विदेशी वस्तुओं को ऊॅचे दामों पर भी क्रय किया जायेगा। अतः विदेशी व्यापार संचालन में भी एक देश दूसरे देश की माँग की लोच की जानकारी ज्ञात करके ही अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

(6)वितरण में महत्व(Importance)–माँग की लोच का महत्व अर्थशास्त्र के वितरण क्षेत्र में दिनो–दिन बढ़ता ही जा रहा है, उत्पादन विभिन्न उत्पादन के साधनों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है। इसमें उत्पादन के साधनों को मिलने वाले हिस्से का निर्धारण करते समय उनकी माँग की लोच को ध्यान में रखना पड़ता है। उत्पादक के लिए जिन साधनों की माँग बेलोच होती है उनको ऊॅचा पारिश्रमिक दिया जावेगा और जिन साधनों की माँग की लोच लोचदार होगी उन्हें पारिश्रमिक कम दिया जावेगा।

प्रश्न

1. माँग की आय लोच पर टिप्पणी लिखिए।

   Write short note on Income Elesticity of Demand.

2. माँग की लोच के निर्धारक तत्वों पर टिप्पणी लिखिए।

   Write short note on factors determining of Elasticity of Demand.

3. माँग की कीमत लोच पर टिप्पणी लिखिए।

   Write short note on Price-Elasticity of Demand.

4. माँग की लोच क्या है?इसे कैसे मापा जाता है? उन घटकों का विवेचन कीजिए जिन पर माँग की लोच निर्भर होती है।

   What is the Elasticity of Demand ? How is it Measured ?Descuss the factors on which the Elasticity of Demand Depends.

5. माँग के नियम को विस्तार से समझाइए।

   Discuss in detail about the Law of Demand.

6. माँग की लोच को परिभाशित कीजिए। आप माँग की लोच को कैसे मापेंगे?

   Define Elasticity of Demand. How will you measure Elasticity of Demand ?

इकाई – 3

उदासीनता वक्र विश्लेषण

अध्ययन के उद्देश्य

3.1 उदासीनता वक्र

3.2 उदासीनता वक्र की परिभाषाएं

3.3 उदासीनता वक्र विधि का स्पष्टीकरण

3.4 उपयोगिता विश्लेषण तथा उदासीनता वक्र विश्लेषण में समानता

अभ्यास प्रश्न

3.1 उदासीनता वक्र

(Indifference Curve)

उदासीनता वक्र वह वक्र है जिस पर स्थित प्रत्येक बिन्दु दो वस्तुओं के ऐसे संयोग प्रस्तुत करता है जिससे किसी उपभोक्ता का समान सन्तुष्टिमिलती है। दूसरे शब्दो में,उदासीनता बिन्दु पर जितने वक्र होते हैं, वे दो वस्तुओं के उन संयोगों को दिखाते हैं जिनसे उपभोक्ता को एक समान सन्तुष्टि मिलती है। चूँकि प्रत्येक संयोग से एक समान सन्तुष्टि मिलती है, इसलिए उपभोक्ता इन संयोगों के सम्बन्ध में बिलकुल उदासीन रहता है, यानि वक्र एक प्रदर्शित प्रत्येक संयोग को वह एक समान महत्व देता है। **एडवर्ड नेबिन** ने कहा है,''उदासीनता वक्र विश्लेषण का आधार है कि यदि किसी उपभोक्ता को दो विभिन्न वस्तुओं की दी हुई मात्रा के सम्बन्ध में कोई विशेष रूचि या पसन्दगी नहीं है तो वह उन दो वस्तुओं के संयोग से समान सन्तुष्टि प्राप्त करता है।''

इस प्रकार उदासीनता वक्र 'संख्या सूचक उपयोगिता*(Cardinal Utility Function) के विपरीत क्रम सूचक उपयोगिता पर आधारित विश्लेषण विधि है।''क्रम सूचक उपयोगिता'' प्रकार्य के अन्तर्गत यह मान्यता तो निहीत है कि उपभोक्ता सन्तुष्टि को अधिकतम करने का प्रयास करेगा। परन्तु उसमें

सन्तुष्टि को अधिकतम करने का अर्थ सन्तुष्टि का अधिकतम कुल उपयोग प्राप्त करना न होकर सन्तुष्टि को उच्चतर स्तर तक प्राप्त करना होता है। इन अर्थशास्त्रीयों के अनुसार उपयोगिता तुलनीय है मापनीय नहीं। यद्यपि उपभोक्ता यह नहीं बतला सकता कि उसको अमुक वस्तु से कितनी उपयोगिता मिली है? परन्तु वह यह अवश्य बता सकता कि वस्तुओं का कोई संयोग वस्तुओं के किसी दुसरे की अपेक्षा कम,बराबर या अधिक प्रिय है। इस पद्धति में हम यह नहीं कहते हैं कि सेब से प्राप्त उपयोंगिता 100 है तथा आम से प्राप्त उपयोगिता 80 है। इस कारण उपभोक्ता सेब को आम की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। इस पद्धती में हम यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि मात्राओं अथवा संख्याओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।**''उदासीनता वक्रों की सन्तुष्टि के सम्बन्ध में क्रम सूचक संख्यायें** (प्रथम,द्वितीय व तृतीय आदि) **निर्दिष्ट होती हैं जिससे उपभोक्ता यह कहने मे समर्थ हो सके कि वह सन्तुष्टि के उच्चतर व निम्न स्तर पर है।** अतः अब माँग विश्लेषण के लिए यह जानना आवश्यक है कि किसी उपभोक्ता को किसी वस्तु के उपभोग से कितनी उपयोगिता मिलती है? यद्यपि उपयोगिता तत्व अब भी विद्यमान है फिर भी उसके परिणाम की माप आवश्यक नहीं हैं।

3.2 उदासीनता वक्र की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें

उदासीनता वक्र की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें इस प्रकार हैं–

1.**जे.के.ईस्थम (J.k. Eastham)** वस्तुओं के उन जोड़ों को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओं का मार्ग होता है,इसलिए इसे उदासीनता वक्र कहते हैं।''

2.स्टिगलर (Stigler) ''यदि वस्तुएँ विभाज्य हों तो हम **X और Y** वस्तुओं के अनेक संयोग बना सकते हैं जो सन्तोश की दुश्टि से समान हों ..... यदि हम ऐसे समान संयोगों को ग्राफ पर प्रदर्शित कर एक–दूसरे से मिला दे ंतो एक वक्र 1^n बन जाता है। 1^n वक्र रेखा ही उदासीनता वक्र रेखा है क्योंकि उपभोक्ता इस विषय में विषय में उदासीनता होता है कि 1^n रेखा पर **X और Y** वस्तुओं का वह कौनसा संयोग चुने?''

3.3 उदासीनता वक्र विधि का स्पष्टीकरण

1.उदासीनता वक्र(Indifference Schedule) –उदासीनता वक्र विधि के अन्तर्गत उपभोक्ता को दो या अधिक उपयोग वस्तुओं की पसन्दगी मान अथवा अनुराग क्रम के आधार पर समान सन्तुष्टि प्रदान करने वाले संयोगों की एक सूची तैयार की जाती है जिसे उदासीनता सूची कहते हैं।

मेयर्स के शब्दो में,''उदासीनता सूची दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों की सूची होती है, जो किसी व्यक्ति को समान रूप से सन्तोष जनक प्रतीत होती है।'' नीचे चाय और पान दो वस्तुओं में विभिन्न संयोंगों की सूची दी जा रही है, जिससे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टिप्राप्त होती है।

संयोग क्रम	चाय (कप)(x)	पान(y)
प्रथव	2	30
द्वितीय	3	24
तृतीय	4	19
चतुर्थ	5	15
पंचम	6	12
शश्ठम्	7	10

उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि उपभोक्ता को 2 कप चाय और 30 पान से जितनी उपयोगिता प्राप्त होती है,उतनी ही उपयोगिता 3 चाय और 24 पान से या अन्य संयोगों से प्राप्त होती है। हमारा उपभोक्ता पहला संयोग (2 चाय + 30 पान),दूसरा संयोग (3 चाय + 24 पान), तीसरा संयोग (4 चाय + 19 पान),चौथा संयोग (5 चाय + 15 पान),पॉचवॉ संयोग (6 चाय + 12 पान),और छठा संयोग (7 चाय + 10 पान), के प्रति उदासीन रहता है, क्योंकि इन सभी संयोगों से उसे समान उपयोगिता अथवा सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

उदासीनता वक्र द्वारा स्पश्टीकरण संयोगों को चित्र 3 (अगले पेज पर),द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

चित्र 3 में OX अक्ष पर चाय के कप व OY अक्ष पर पानों की संख्या बतायी गई है। IC रेखा चाय व पान के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करने वाली समान सन्तुष्टि रेखा है। और उपभोक्ता इस रेखा के किसी भी बिन्दु के संयोग को अपनाने के लिए पूर्ण तटस्थ है। चित्र से स्पष्ट है कि सभी बिन्दू समान सन्तुष्टि को प्रदर्शित कर रहे हैं। उपभोक्ता किसी विशेष बिन्दू को अपनाने के लिए प्रेरित नहीं हो रहा है।

यह विवाद का विषय रहा,'कि क्या उदासीनता वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण पर सुधार है तथा उससे श्रेष्ठ है। इसे सिद्ध करने के लिए सर्वप्रथम दोनों का तुलनात्मक विवेचन करेंगे तथा इसके बाद इसकी श्रेश्ठता पर विचार करेंगे।

3.4 उपयोगिता विश्लेषण तथा उदासीनता (तटस्थता)वक्र विश्लेषण में समानता

(1) दोनों ही प्रकार के विश्लेषणों की यह मान्यता रही है कि उपभोक्ता विवेकशील है और वह अपनी सन्तुष्टि अथवा उपयोगिता को अधिकतम करना चाहता है। उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यता यह है कि उपभोक्ता उच्चतम उदासीनता वक्र पर पहुॅचने का प्रयास करता है। इसी प्रकार मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण की भी यह मान्यता है कि उपभोक्ता अपनी उपयोगिता को अधिकतम करने का प्रयास करता है। मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण के अनुसार उपभोक्ता उस समय सन्तुलनात्मक में रहता है जबकि वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता और कीमतों में अनुपात समान होता है। इसी प्रकार उदासीनता वक्र विश्लेषण के अन्तर्गत उपभोक्ता तब सन्तुलन की स्थिति में होता है, जबकि दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर होती है।

(2) **दोनों ही विश्लेषणों में ह्रासमान उपयोगिता की मान्यता निहित है–हिक्स ने** उदासीनता वक्र विश्लेषण में उदासीनता वक्रो को उदम के उन्नतोदर माना है अर्थात् जैसे–जैसे एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का अधिकाधिक प्रतिस्थापन किया जाता है वैसे–वैसे ही उस वस्तु के लिए पहली वस्तु की सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती जाती है।

(3) दोनों ही विश्लेषणों में मनोवैज्ञानिक तरीकों को अपनाया गया है—मनोवैज्ञानिक तरीकों से हम अपने मस्तिश्क में प्रतिक्रिया के आधार पर उपभोक्ता की मनोवैज्ञानिक भावनाओं की कल्पनाकर लेतें है। **तपस मजुमदार** के शब्दों में,''हिक्स, एलेन की मूल अध्ययन विधि वही है जो मार्शल की सीमान्त उपयोगिता परिकल्पना में है, कहना चाहिए कि मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है।''

दोनों में असमानताएँ

i. मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण गणितात्मक माप पर आधारित है, इसके विपरीत हिक्स एलेन का उदासीन वक्र विश्लेषण उपयोगिता के क्रमवाचक माँग पर आधारित है। उदासीनता वक्र विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि उपयोगिता या सन्तुष्टि अमापनीय है जो कि उचित है क्योंकि जैसा **स्टोनियर** और **हेग** ने कहा हैं कि,'' सन्तुष्टि की मात्रा का माप इतना असम्भव होता है जितना कि समुद्र धरातल के ऊपर ऊँचाई मापना।''

ii. उदासीनता वक्र विश्लेषण दो या दो से अधिक वस्तुओं के संयोग का अध्ययन करता है, जबकि उपयोगिता सिद्धान्त केवल एक वस्तु का विश्लेषण करता है।

iii. मार्शल ने उपभोक्ता के व्यवहार के विश्लेषण में यह मान लिया था कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है,किन्तु उदासीनता वक्र विधि बिना इस मान्यता के भी सही परिणाम बताती है।

iv. मार्शल किसी वस्तु की कीमत परिवर्तन के दो महत्वपूर्ण अंगो,आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के बीच भेद नहीं कर सके, जबकि उदासीनता विधि इन दोनों प्रभावों का बड़ी स्पष्टता से विश्लेषण करती है।

v. मार्शल गिफिन वस्तुओं की विशिष्ट स्थिति का सन्तोशजनक स्पष्टीकरण नहीं दे सके, जबकि हिक्स ने गिफिन के विरोधाभास को भली प्रकार स्पष्ट किया है।

1. **उपयोगिता के संख्यात्मक माप का परित्याग**—उदासीनता वक्र विश्लेषण मे आधार पर उपभोक्ता के आचरण की अधिक वैज्ञानिक व्याख्या होती हैं,क्योंकि इनके निर्माण में उपयोगिता की संख्यात्मक माप की आवश्यकता नहीं होती, जबकि मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण 'परिणात्मक मापन' पर आधारित है जो अत्यन्त अस्पष्ट व अवास्तविक है। इसका कारण यह है कि उपयोगिता एक परिवर्तनशील मानसिक भावना है जो कि व्यक्तियों और समय के साथ बदलती रहती है।

2. **मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता की मान्यता से मुक्ति**—मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण द्रव्य की स्थिर सीमान्त उपयोगिता की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। लेकिन उदासीनता वक्र विश्लेषण मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता की मान्यता पर आधारित नहीं है। सत्य तो यह है कि उदासीनता वक्र विश्लेषण में मुद्र की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मान लेना आवश्यक ही नहीं है क्योंकि यह विश्लेषण क्रम सूचक उपयोगिता पर आधारित है।

3.**यह विधि दो या दो से अधिक वस्तुओं के संयोगों का अध्ययन करती है**—उपयोगिता सिद्धान्त केवल एक वस्तु का विश्लेषण करता है जिसमें एक वस्तु की उपयोगिता को दूसरी वस्तु की उपयोगिता से स्वतन्त्र मान लिया जाता है। उदासीनता वक्र विधि एक से अधिक वस्तुओं के विश्लेषण की तकनीक है जो प्रतियोगी तथा पूरक सभी प्रकार की वस्तुओं के सम्बन्ध में उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन करती है।

4. **यह विधि मूल्य प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव की व्याख्या करती है**—मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण में यह कमी है कि वह किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने से होने वाले आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभावों की उपेक्षा करता है। उदासीनता वक्र विधि किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन के प्रभावों को दो भागों में विभक्त कर प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव का विश्लेषण करता है। जब किसी वस्तु का मूल्य कम हो जाता है तो उससे प्रथम उपभोक्ता की वास्तविक आय बढ़ जाती जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता उस वस्तु को अन्य वस्तुओं के स्थान पर प्रयोग करने लगता है,यह प्रतिस्थापन प्रभाव होता है। इस विधि में मूल्य परिवर्तन के प्रभावों को आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावों में विभाजित करके अध्ययन किया जाता है।

(5)**हासमान सीमान्त उपयोगिता नियम की मान्यताओं के बिना व्याख्या करता है**—उपयोगिता विश्लेषण ह्यसमान सीमान्त उपयोगिता का प्रतिपादन करता है जो सब प्रकार की वस्तुओं तथा मुद्रा पर भी क्रियाशील होता है क्योंकि यह सिद्धांत संख्या सूचक माप पर आधारित है इसलिए उस विश्लेषण के सभी दोष इस नियम में निहित है।

उदासीनता सिद्धान्त में इस नियम का स्थान ह्यसमान सीमान्त प्रतिस्थापन दर के नियम ने ले लिया है। **हिक्स** के अनुसार यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है और साथ ही उपयोगिता विश्लेषण के मनोवैज्ञानिक मात्रात्मक माप से मुक्त है। इस नियम के उपभोग,उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में प्रयोंग ने अर्थशास्त्र को अधिक वास्तविक बना दिया है।

(6)**माँग का एक अधिक व्यापक सिद्धान्त निर्मित करने में सहायक**–मार्शल के माँग के उपयोगिता विश्लेषण की तुलना में उदासीन वक्र विधि माँग के नियम की अधिक व्यापक तथा समुचित व्याख्या करने में सहायक है। उदासीनता वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक धारणाओं से मुक्त है। यह मूल्य परिवर्तन के प्रभाव को (i) आय प्रभाव तथा (ii) प्रतिस्थापन प्रभाव से विभक्त करता है। इसलिए इसके आधार पर हमें माँग का अधिक व्यापक एवं समूचित नियम प्राप्त होता है। मार्शल का माँग का नियम गिफिन वस्तुओं के मूल्यों में कमी होने पर उनकी माँग में कमी होने को स्पष्ट नहीं करता जबकि उदसीनता प्रभाव से विभाजित करके स्पष्ट किया जा सकता है। उदासीनता वक्र विधि के अनुसार (i) जब मूल्य परिवर्तन से आय प्रभाव धनात्मक अथवा शून्य होता है तब वस्तु के मूल्य तथा माँग में विपरीत सम्बन्ध होता है। (ii) जब मूल्य परिवर्तन से धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव ऋणात्मक आय प्रभाव की है। (iii) जब मूल्य परिवर्तन से धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना में ऋणात्मक आय प्रभाव अधिक शक्तिशाली होता है तब वस्तु के मूल्य तथा माँग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। मार्शल के नियम (iv) स्थिती की व्याख्या नहीं करता जबकि उदासीनता वक्र विश्लेषण इन तीनों स्थितियों की व्याख्या करता है।

(7)**मूल्य परिवर्तन से आय तथा कल्याण सम्बन्धी परिणामों की श्रेष्ठ व्याख्या**–उदासीनता वक्र की सहायता से किसी वस्तु के वस्तु के मूल्य परिवर्तन के कल्याणात्मक परिणामों को आय परिवर्तन के परिणामों में परिवर्तित किया जा सकता है। जब किसी वस्तु या सेवा के मूल्य में बाजार में कमी आती है तो उसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता कल्याण के निम्न स्तर से उच्च स्तर पर चला जाता है। इसके विपरीत बाजार में किसी वस्तु या सेवा के मूल्य में वृद्धि होने पर उपभोक्ता कल्याण के उच्च स्तर से निम्न स्तर पर चला जाता है। अतः किसी वस्तु या वास्तविक आय में हूए परिवर्तन के अनुरूप होते हैं,अर्थात् एक उपभोक्ता कल्याण के उच्च स्तर पर पहुँचने की कल्पना वस्तु अथवा सेवा के मूल्य में कमी के स्थान पर आय में वृद्धि के द्वारा भी सम्भव है।

8.उदासीनता वक्र विश्लेषण बहुत कम मान्यताओं पर आधारित होने के कारण इस विश्लेषण के निष्कर्ष उपयोगिता विश्लेषण से ज्यादा सही होती हैं।

प्रश्न

1. उपभोक्ता व्यवहार से आप क्या समझते हैं? उपभोक्ता का व्यवहार उपभोक्ता की आय,वस्तु के मूल्य तथा प्रदर्शन तथा विज्ञापन से किस प्रकार प्रभावित हेाते हैं?

What do you understand by consumer behavior ?how is consumer behavior influenced by the income of the consumer,price of the commodity and cemonstration and advertising ?

2.उपभोक्ता व्यवहार के सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिये।

˘rite a note on the Consumer"s Behaviour.

खण्ड – 2
इकाई – 4

उत्पादन एवं लागत विश्लेषण

अध्ययन के उद्देश्य

4.1 परिचय

4.2 उत्पादन कार्य (फलन)

4.3 समोत्पत्ति वक्र

4.4 उत्पादन फलन का प्रबंधकीय प्रयोग

अभ्यास प्रश्न

उत्पादकता एवं लागत **(Productivity & Cost)**

वर्तमान समय में बाजार का आकार एवं प्रकृति उत्पादकता एवं लागत को अनेक तरह से प्रभावित करती है,जैसेः

(1)प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा (The Amount of Capital per Warker)

उत्पादकता एवं प्रति श्रमिक पूँजी के बीच एक निकट का धनात्मक सम्बन्ध होता है।

(2)संयन्त्र का आकार (Size of Plant)

संयन्त्र का आकार एवं उत्पादकता में भी धनात्मक सम्बन्ध होता है।

(3)सरलीकरण,प्रमापीकरण तथा विशेषीकरण (Simplification,Standardization and Specialization)

यदि बाजार का स्वरूप बड़ा है,सरल है,प्रमापीकृत है एवं नियमितता तथा स्थिरता युक्त है तो ऐसी अर्थव्यवस्था में सरलीकरण,प्रमापीकरण तथा विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। सरलीकरण उत्पादों की किस्मों की संख्या तथा विविधता कम करने की प्रक्रियाओं को बतलाता है। प्रमापीकरण

वस्तु के स्वरूप,रचना तथा आयाम (dimension) अथवा विनिर्माण विधि से सम्बन्धित एक प्रमाप की ओर निर्देश करता है। विशेषीकरण मात्र व्यर्थ की किस्मों की संख्या कम करने की ओर संकेत करता है तथा इसके परिणामस्वरूप विनिर्माण संसाधनों का संकेन्द्रण हो जाता है। संसाधनों का संकेन्द्र भी संयुक्त राज्य अमेरिका में उच्च उत्पादकता तथा निम्न लागत के प्रति उत्तरदायी हैं।

(4)क्षमता के उपयोग का स्तर (The Degree of Utilization Capacity)

सज–सज्जा (Equipment) की योजना यदि एक विशेष दर पर तैयार करने की बनाई गई है तो इससे मितव्ययिता होगी,बशर्ते कि उस योजना का संचालन निर्धारित दर पर ही किया जावे। क्षमता से नीचे स्तर पर उत्पादन करने से लागतें बढ़ती हैं। भारत में सार्वजनिक एवं निजी दोनों ही प्रकार के उद्योगों मे उत्पादकता कम होने का एक महत्वपूर्ण कारण उत्पादन की क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं होना है।

प्रबन्ध एवं प्रशासन

(Management and Administration)

उत्पादकता की किस्म,उत्पादन–क्षमता तथा प्रबन्ध की कल्पना शक्ति उत्पादकता निर्धारित करने में एक महत्वपूर्ण घटक है। उसी प्रकार प्रगतिशील प्रबन्ध निरन्तर विकास करेगा तथा सर्वदा सीखने और परिवर्तन करने की तत्परता का प्रदर्शन करेगा। उत्पादकता दल ने संयुक्त राज्य में भ्रमण के दौरान वहॉ के औद्योगिक प्रबन्ध से प्रबन्ध की कुशलता,उसमें उत्साह,तकनीकी ज्ञान तथा मूल्यांकन एवं नीति निर्माण की आधुनिकतम विधियों के प्रयोग करने के लिए काफी उत्साहजनक ज्ञान प्राप्त किया है। इस शीर्शक के अन्तर्गत अनेक बातें आती हैं–(1) उत्तरदायित्व की स्पष्टपरिभाषा (2) अधिकारों की सुपर्दगी। इसके अलावा प्रबन्ध के अन्य अनेक कार्य भी प्रत्यक्षतः उसके प्रमुख कार्यों की श्रेणी में ही रखे जा सकते हैं, जैसे–उत्पादन प्रायोजना,लागत एवं बजटरी कन्ट्रोल,सूचनाओं का आदान–प्रदान तथा अनुसन्धान आदि।

प्रबन्ध में अधीनस्थों के लिए उत्तरदायित्व की स्पष्टपरिभाषा की आवश्यकता तथा महत्व के लिए कोई भी व्यक्ति नाकार नहीं हो सकता। इसके द्वारा किसी एक के उत्तरदायित्व को निर्धारित करने में सहायता मिलती है तथा उसी समय विशेष पर अनावश्यक संदेहों को भी दूर करता है। इससे

कार्य भी आसानी से होता रहता है। एक वैज्ञानिक दृष्टि से भी कार्य एवं अधिकारों की सुपुर्दगी की आवश्यकता के बारे में प्रबलता के साथ कहा जा सकता है। यह हमें स्वतन्त्रता प्रदान करती है तथा प्रभारी व्यक्ति को पहल–शक्ति प्रदान करता है तथा शेश कार्य को कुशलता के साथ निबटाने की प्रतिक्रिया के साथ तालमेल बैठाता है।

उत्पादन आयोजना(Production Planning)– जब वास्तविक उत्पादन को आगे नियोजित ढंग से किया जाता है तो उत्पादकता अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। ऐसा इस दृष्टि से भी किया जा सकता है कि इससे एक ओर तो बर्बादी व नुकसानों में कमी आयेगी और दूसरी ओर बढ़े हुए लाभ के प्रयोगित करने से उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है तथा कुल लागतों में कमी होती है। कार्यक्रम विधियों (Programming Methods) इत्यादि के प्रयोग के साथ एक व्यापार उत्पादन नियोजन करना, अमेरिकन प्रबन्ध का एक समन्वित भाग है। भारतीय प्रबन्ध में तो अब भी इस प्रकार के कार्यक्रम की एक आदत को बनाना अवशेष है।

लागत एवं बजटरी नियन्त्रण (Costing and Budgetary Control)– इस शीर्श के अन्तर्गत लागत नियन्त्रण, सामग्री नियन्त्रण तथा अन्य अनेक व्यय नियन्त्रण विधियॉ आती है। लागत नियन्त्रण से तीन उद्देश्यों की पूर्ति होती हैः

1. इससे प्रबन्ध को उचित लागत सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं।
2. यह व्ययों का नियन्त्रण करने का साधन है तथा कमियों को दूर करता है।
3. अन्त में, भावी नियोजन के लिए मार्गदर्शन करता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में अपवाद–स्वरूप प्रबन्ध लेखांकन तथा लागतो को भलीभॉती जारी रखा है। जो व्यक्ति कार्य पर होते हैं, उनको सूचनाओं से परिपूर्ण रखा जाता है तथा लागतों और व्ययों को कम करने के अनुसार उनको भी उसी के अनुसार तैयार कर दिय जाता है।

सूचनाओं का आदान–प्रदान (Costing and Budgetary Control)– संयन्त्रों की उत्पादकता में विभिन्नताओं के अनेक कारण हो सकते हैं जिसमें विद्यमान संयन्त्र में,औद्योगिक क्षेत्र में अत्यधिक कुशल प्रबन्ध के साथ–साथ सूचना का आदान–प्रदान होना भी हमेशा उत्पादन वृद्धि में सहायक होता है। उत्पादकता से सम्बन्धित एंग्लो अमेरिकन परिशद् अमेरिकन विनिर्माताओं द्वारा उनके तकनीकी ज्ञान के प्रयोग करने तथा अन्य विनिर्माताओं के साथ चाहें वे प्रतिस्पर्द्धी हों या नहीं,

उत्पादन विधियों के सम्बन्ध में चर्चा करने में तत्परता व्यक्त करने के कारण अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

अनुसन्धान (Research)–सूचनाओं के आदान–प्रदान करने का विषय अच्छे परिणामों के लिए तथा इसके उपयोग से निकट सम्बन्ध रखता है। परिणामों के प्रसार से पूर्व संगठन तथा अनुसन्धान की आवश्यकता अत्यधिक महत्वपूर्ण है। औद्योगिक समस्यओं की जानकारी, अनुसन्धान के माध्यम से उनके समाधान की खोज करने की तत्परता, अनुसन्धान के प्रति अनुसन्धान शब्द तकनीकों को खोजने से जुड़ा हुआ है,कि किन्तु इस शब्द का व्यापार में उपयोग किया जाता है। इसे केवल अनुसन्धान तक ही सुरक्षित नहीं रखा गया है बल्कि लागत अनुसन्धान,कार्य एवं गति अनुसन्धान आदि में भी इसका उपयोग हुआ है।

सामग्री,साज–सज्जा तथा विन्यास

(Materials, Equipments and Lay out)

विभिन्न क्षेत्रों, उद्योग,देश के बीच उत्पादकता में विभिन्नताओं का कारण फर्म द्वारा प्रयुक्त कच्ची सामग्री की किस्म हो सकती है। चीनी उद्योग,लोहा एवं इस्पात उद्योग तथा वस्त्र उद्योग में इसका महत्वपूर्ण योगदान होता है। कच्चे माल की किस्म के अतिरिक्त, तय की जाने वाली दूरी तथा कच्चे माल की नियमित पूर्ति होना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक उपक्रम जो कच्चे माल की दृष्टि से (कच्चे माल के अनुसार) अनुकुल स्थिति में है,यदि उसकी तुलना उस उपक्रम से करें जो कच्चे माल के क्षेत्र में स्थित नहीं है तो हमें विदित होता है कि असे कच्चे माल को भाड़े पर मंगाने पर कम लागत प्राप्त नहीं होगी। इसी प्रकार,कच्चे माल की तीव्र पूर्ति भी निरन्तर उत्पादन के लिए आश्वस्त करती है तथा इसीलिए लागतें भी घट जाती हैं।

सामग्री का संचालन (Material Handling)– उत्पादकता को प्रभावित करने में सामग्री का संचालन भी एक महत्वपूर्ण घटक है,जहॉ कि कच्चे माल को भारी मात्रा में प्रयुक्त करते है, माल उतारा जाता है,माल भेजा जाता है,माल चढ़ाया जाता है, माल खाली किया जाता है तथा पुनः चढ़ाया जाता है। इस्पात जैसे उद्योग में इसका बहुत ही महत्व है। इसीलिए मितव्ययिताओं तथा

कुलशलता के लिए यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र का निर्माण करता है। सामग्री का मेकेनिक दृष्टि से संचालन करने में एक संयन्त्र का सामग्री व्यय करने वाला विभाग लागतों को कम करने में बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

विन्यास (Lay-out)– एक संयन्त्र का विन्यास या खाका (Lay-out) भी लागतों की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। विन्यास का महत्व केवल सामग्री के सुसंचालन की दृष्टि से ही नहीं होता, अपितु संयुक्तिकरण तथा परिवहन की कठिनाई को दूर करने, संतोशजनक प्रकाश की व्यवस्था करने, अनावश्यक आन्तरिक ढुलाई से बचने, तापमान का सदुपयोग करने (लोहा–इस्पात जैसे उद्योग के लिए उच्च तापमान बहुत ही महत्वपूर्ण होता है) के लिए भी होता है। इसका बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है।

साज–सज्जा एवं देख–रेख (Equipment and Maintenence)– एक उपक्रम में पूँजी गत साज–सज्जा पर बहुत ही सावधानीपूर्ण और नियमित देख रेख की आवश्यकता होती है। आगे वे काफी उपयोगी हो सकते हैं और कार्य भी निरन्तर जारी रह सकता है। जब तक पूँजी गत उपकरण नये होते हैं तो अधिक देखभाल की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु जब उनका ह्रास होने लगे तो अधिक देखभाल की आवश्यकता होती है। जैसे–जैसे मशीन की उम्र घटती जाती है तो उत्पादन श्रृंखला अधिक टूटती है और परिणामस्वरूप उत्पादन की हानि होती है। इसीलिए हमेशा समय रहते देख–भाल करना अच्छा होता है। दुर्भाग्यवंश हमारे सार्वजनिक क्षेत्र के संयन्त्रों की देख–रेख में बहुत ही लापरवाही बरती जाती है और उपेक्षित क्षेत्र में गिना जाता है। यह सार्वजतिन क्षेत्र के इस्पात संयन्त्रों तथा निजी क्षेत्र के इस्पात संयन्त्र टाटा लोहा–इस्पात कम्पनी (टस्को) के अधो–समय (down-time)के तुलनात्मक समंकों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। टिस्को एक प्राचीन संयन्त्र होने के नाते खराब नहीं होने हेतु अत्यधिक विश्वसनीय संयन्त्र है तथा अधोसमय (Downtime) की वृद्धि के लिए भी अनुकूल है। किन्तु इसकी शीघ्र ओर सावधानी पूर्वक देख–रेख इसके अच्छे ढंग से संचालित करनें में अधिक योगदान होगा। इसके दूसरी ओर दुर्गापुर इस्पात संयन्त्र तथा राऊरकेला इस्पात संयन्त्रों में काफी बार खराबी होती है तथा बहुत समय व्यर्थ होता है,ऐसा रिकार्ड किया गया है।

श्रम एवं इसका उपयोग

(Labour and its Utilization)

अन्य उत्पादन साधनों के समान–श्रम–साधन भी अनेक प्रकार से उत्पादकता को प्रभावित करता है। एक उपयुक्त स्वास्थ्य वाला तथा चतुर श्रम फर्म की एक सम्पत्ति है अतः उसे कार्य पर उसकी अभिरूचि के अनुसार ही लगाना चाहिये, जो कि एक उचित निर्णय भी है। यह एक ही सही बात है कि एक कारखाने में पुनरावृत्ति वाले कार्य, जोखिमदार कार्य तथा पर्यवेक्षण सम्बन्धी कार्य होते हैं। यदि इन कार्यों के भार को उस कार्य के करने की प्रकृति वाले व्यक्ति को सुपुर्द किया गया तो इसका प्रतिफल बहुत अच्छा मिलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस (Placement) पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। वहॉ अनेक जॉच–परीक्षायें तथा व्यापक साक्षात्कारों का आयोजन किया जाता है। प्रशिक्षण उन्मुख कार्यक्रमों (Training-oriented Programmes) तथा रिफ्रेशर पाठ्क्रमों की आवश्यकता, श्रम को कार्यकुशल बनाने के लिये होती है और आगे वाले वर्शों में इस पर और भी अधिक बल दिया जावेगा। इससे उपक्रम में वॉछनीय कुशलता आ जाती है। सोवियत रूस में कुछ उद्योगों के अध्ययन करने पर गलेन्सन (Galenson)तथा अन्य विचारकों ने महसूस किया कि वहॉ पर उद्योगों में कुशल श्रमिकों का अभाव है तथा स्टाफ भी अतिरिक्त (Surplus)में है।

एक उपक्रम की उत्पादकता श्रमिक की मनोविचारधारा पर भी निर्भर होती है। उसकी मजदूरी और कार्य,असके पर्यवेक्षकों का व्यवहार (क्या वे अधिक उदार हैं या सख्त भी हैं, तथा तंग करने वाले हैं) उसके मजदूरी–दर का ढॉचा,साथ ही साथ जॉच की अन्य श्रेणियों,उसकी उन्नति का भविष्य तथा अच्छे प्रयास हेतु उसे हतोत्साहित करते हैं। यह बिल्कुल यथार्थ है कि जहॉ वरिष्ठता ही क्रमोन्नति का आधार हो तथा जहॉ अकुशलता को भी बर्दाश्त कर लिया जाता हो तो वहॉ अत्यधिक कुशल से कुशल व्यक्ति भी अपने प्रयासों को समाप्त कर देगा तथा अपने अच्छें प्रयासों को भी नहीं करेगा। श्रमिकों की विचारधारा का मनोदशा किस प्रकार महत्वपूर्ण है इस को दुर्गापूर इस्पात संयन्त्र के उदाहरण द्वारा आंका जा सकता है। असन्तुष्ट तथा हताश श्रम–शक्ति कार्य की गति को कम करती है। इसके विपरीत 'टिस्को' में कोई श्रम समस्या नहीं है, जो कि इसके लिए एक नमूना है।

संस्थागत घटक

(Instirutional Factors)

संस्थागत घटक भी उस संरचना के लिए उपयुक्त होते हैं, जिसमें एक कारखाना या उद्योग कार्य करता है। इनका भी उत्पादकता से महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता हैं। इस शीर्शक के अन्तर्गत तीन सहायक संकेत सम्मिलित किये जा सकते हैंः

(अ) करारोपण अथवा आर्थिक सहायता आदि के सम्बन्ध में सरकारी नीतियॉ।

(ब) उपक्रम द्वारा अवलोकित प्रतियोगिता का स्तर।

(स) पूँजी की उपलब्धता तथा अन्य बहि मितव्ययितायें।

सरकारी करों का भी लागतों के बढ़ने से उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कर एक देश या क्षेत्र में भारी हो सकते हैं जबकि दूसरे में नहीं भी हो सकते। तथापि अन्य बातों के यथावत् होने पर, भारी करारोपण वाले क्षेत्र में,उत्पादन की लागत, गैर–करारोपण वाले क्षेत्र की तुलना में अधिक होगी। इससे निवेशों (Inputs)] उपकरण तथा ईंधन इत्यादि की भी लागत बढ़ सकती हैं सन्तुलित क्षेत्रीय विकास करने तथा आयात–प्रतिस्थापन को उन्नत करने के लिए भारत सरकार को करों और आर्थिक अनुदानों का प्रचुरता से उपयोग करना चाहिए। मूल्य नियन्त्रण एवं नियमनों का भी निरन्तर उपयोग किया जाना चाहिए। इन सबका विशेषकर भारत में, लागतों और उत्पादकता पर अत्यधिक प्रभाव पड़ेगा। यह भी बहुताय से **महसूस किया गया है कि प्रतियोगिता की श्रेणी या स्तर भी** उत्पादकता को बढ़ाता है, क्योंकि उस स्थिति में प्रबन्ध अधिक देख–रेख करता है तथा बरबादियों (wastage) की सम्भावनाओं को रोकने के लिए जागरूक हो जाता है। फिर भी उत्पादक संघों, मिल–जुल कर मूल्य निर्धारण करना तथा अनुपात निश्चित करता आदि अनेक प्रकार से संरक्षण उपकरण हैं ,जो उत्पादकता में कुशलता लाते हैं।

वे शर्तें जिन पर पूँजी तथा अन्य सुविधाऍ बैंकों,गृह,परिवहन,बीमा इत्यादि उपलब्ध होती हैं, भी उत्पादकता को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण घटक होते हैं। संयन्त्र को जब उस स्थान पर स्थापित किया जाता है जहॉ कि हर सुविधा को क्रमबार जुटाया जाता है तो लागतें उस स्थान के संयन्त्र से

अधिक होंगी, जहॉ कि सभी सुविधायें संयन्त्र की रचना के समय ही उपलब्ध थीं। यह हमारे अधिकांश सार्वजनिक क्षेत्र के संयन्त्रों के लिये ठीक ही सिद्ध होता है।

उत्पादकता के प्रति प्रबन्ध एवं श्रमिकों का दृष्टिकोण

(**Attitude of Management and Workers towards Productivity**)

एक सीमा, जिसे एक फर्म उत्पादकता में वृद्धि को बढ़ावा देकर अनुभव कर सकता है,यह भी प्रबन्ध एवं श्रमिकों के कार्य करने के सामान्य दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा। कुछ तों स्वभाव से ही कार्य करने के प्रति समर्पित होते हैं। (यह बात एक अमेरिकन,एक जापानी तथा एक जर्मन के लिए सही होती है)।

उत्पादता को प्रभावित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण घटक '' उत्पादकता से किसे लाभ होता है'' (Who gains from productivity) से सम्बन्धित है। यदि श्रमिक स्पष्टतः उत्पादकता वृद्धि बढ़ाने के हकदार है तो वे इसके लिये कार्य करेंगे। इसी प्रकार यदि बढ़ी हुई उत्पादकता कुछ श्रमिकों की छंटनी का परिणाम है तथा कार्य की कोई सुरक्षा नहीं होती है तो श्रमिकों से इस उत्पादकता वृद्धि की ओर कार्य करने की आशा रखना व्यर्थ होगा। यद्यपि आइ.अल.ओ-(ILO) के एक दल ने ठीक ही कहा है कि उत्पादकता वृद्धि के लिए सभी प्रेरणाओं को समाप्त करना उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कुछ श्रमिकों को कार्य से हटा देना। इन श्रमिकों को अपना कार्य का परिवर्तन करना पड़ सकता है। उनके निवास स्थान को भी छोड़ना पड़ सकता है तथा घटिया रोजगार को भी अपनाना पड़ सकता है। इसीलिए,उन श्रमिकों को,जिनकी छॅटनी की है,के लिए उत्पादक रोजगारों में पुनरवशोषण (reabsorption) हेतु एक प्रभावपूर्ण प्रावधान बनाना अनिवार्य है।

प्रश्न

1. मूल्य निर्धारण में लागत–व्यवहार की भूमिका की व्याख्या कीजिये।
   Disxuss the role of behavior of costs in pricing decisions.

2. उत्पादकता तथा लागत में अन्तरों के कौन–कौन से कारण हैं?

What are the causes of differences in productivity cost.

उत्पादकता तथा लागत मापन

(Productivity and cost Measurement)

वर्तमान समय में उत्पाद को भौतिक अथवा मूल्य रूप में मापा जा सकता है। उत्पादन को अन्तिम उत्पादित वस्तुओं एवं गौण उत्पादों के समग्र मूल्य के रूप में अथवा सामग्री एवं ईंधन के सम्मिलित मूल्य के रूप में भी मापा जा सकता है। हमारे दृष्टिकोण में सामान्यतया लागत फलन ज्ञात करने के लिए उत्पादन को भौतिक रूप मे मापना श्रेष्ठ रहता है। यदि हमें श्रम उत्पादकता या पूँजी उत्पादकता ज्ञात करनी हो तो उत्पादन को सम्मिलित मूल्य द्वारा व्यक्त करना अधिक श्रेष्ठ है। उत्पादन के मापने का प्रश्न उस समय भी उत्पन्न होता है जब एक संस्था के अन्दर विजातीय मदों को उत्पन्न करने का मुद्दा विचारणीय हो। असमानता युक्त मदों का भौतिक दृष्टि से राशिकरण या समूहीकरण (Aggregation) सम्भव नहीं होता है और न ही साधारणतया असमान उत्पादों का भौतिक दृष्टि से योग करना वांछनीय ही होता हे। इस उद्देश्य के लिए उनके लिए कुछ भार निर्धारित किया जाता हैं जो उनके सापेक्षिक महत्व को व्यक्त करते हैं। भारों के निर्धारण के लिए विशेषज्ञों ने (कभी–कभी) एक इकाई उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम घंटों को आवश्यकता उपयुक्त आधार के रूप में किया जाता है।[1] उत्पादन में इस विजातीयता को निश्प्रभावित करने के लिए किसी आधार वर्ष में साधन लागत पर उत्पादन मूल्यों का भी प्रयोग किया जा सकता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन की किस्म आधार वर्ष के उत्पादन की किस्म की तुलना में परिवर्तित नहीं होगी,जिसका कि उत्पादन मूल्यों में भार के रूप में प्रयोग किया गया है।

कभी–कभी फर्मों या उद्योगों में संरचनात्मक विभिन्नताओं के कारण भी उपर्युक्त सामंजस्य नहीं होता हैं। अब दो विशेष परिकल्पनात्मक उदाहरणों को लेने पर–एक उद्योग जो केवल लोहे के छड़ो–दण्डों (Rails)का उत्पादन करता है तो उसमें उस उद्योग की अपेक्षा जिसमें केवल टिन प्लेटें अथवा मिश्रित धातु की छड़ें उत्पादित की जाती हों,प्रति टन उत्पादन के अत्यधिक कम श्रम की आवश्यकता होगी। एक पूर्णतः आयातित ठिकानों या खोखों ;ठपससमजेद्ध पर आधारित उद्योग (और इस प्रकार ऐसे उद्योगों में कोई बेटरीज (Coke Batteries), पिग–आइरन तथा कूड स्टील

उत्पादन में श्रम का कोई नियोजन नहीं किया जाता है,की तुलना,एक ऐसे उद्योग जो उपने स्वयं के पिग आइरन तथा इस्पात उत्पादन पर आधारित है,करें तो इनका तुलनात्मक विवेचन का स्वरूप ही मिथ्याजनक प्रतीत होगा। उपर्युक्त वर्णित विभिन्नताओं को निःप्रभावित करने में प्रयोगित पद्धति का उत्पादन के निजी स्तरों पर उत्पादन–मापन में अभेदित करना है तथा प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक उत्पाद के लिए उपयुक्त भार को उस उत्पाद तथा उस उत्पाद–स्तर के लिए संलग्न करना है। इस प्रकार एक वृहत् संचयी भार पर विचार करना होगा। उदाहरणार्थ,एक टन छड़ या दण्ड के भार की अपेक्षा एक टन टिन–प्लेट के भार को संलग्न करना अधिक उपयुक्त होगा तथा पूर्ण संघटित उद्योगों को उनके एकीकरण अर्थात् कोक बेटरीज, पिग आइरन तथा स्टिल निर्माण आवस्थाओं आदि के लिए उचित श्रेय देना होगा।

प्रेक्षण या अवलोकन की समय इकाई का चुनाव(Selection of time unit of observation)

क्या निरीक्षण या प्रेक्षण समय इकाई एक सप्ताह,एक माह अथवा एक वर्ष होनी चाहिए? इसके लिए जो कुछ भी सिद्धान्त औचित्यपूर्ण होता है वह हमेशा व्यवहार में सम्भव सकते। लागत अध्ययनों में निरीक्षण की जितनी छोटी इकाई होती है, उपयुक्त रहती है। किन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि उस छोटी अवधि के लिए एक समान या मिलते–जुलते उत्पाद को भी निश्चित करना नितान्त असम्भव हैं। उत्पादकर्ता तथा लागत के बारे में विद्यमान अध्ययनों में अवलोकन की समय इकाई में एक वर्ष से एक माह की विभिन्न प्रकार की श्रेणियॉ पाई जाती हैं।

निवेश (Inputs)

श्रम तथा उसकी माप (Labour and Measurment)

वर्तमान समय में लागत तथा उत्पादकता दोनों ही अध्ययनों में श्रम एक महत्वपूर्ण निवेश है। सामान्यतः विशेष ज्ञ इस बात पर सहमत हैं कि श्रम निवेश मापन का उपयुक्त आधार,एक फर्म,एक उद्योग,एक क्षेत्र,जैसा भी विषय हो,के अन्तर्गत वास्तविक मानव श्रम घण्टों की कुल संख्या है। थोड़ा यदि हम विचार करें तो विदित होता है कि यद्यपि इसके लिए वास्तविक श्रम घण्टों के प्रयोग हेतु परामर्श दिया जा सकता है किन्तु एक उद्योग में उपलब्ध श्रम सेवायें भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। क्योंकि इसे एक दिए हुए समय अवधि के दौरान प्राप्त उत्पाद तथा उसी अवधि में

श्रम–सेवाओं के प्रवाह के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना होगा। कभी–कभी आनुभविक अध्ययनों में श्रम इकाई गणना के प्रयास दोनों ही रूपों में (उपलब्ध श्रम सेवाओं तथा वास्तविक प्रयोगित श्रम सेवाओं)किया गया है। उपलब्ध श्रम सेवाओं के आधार पर की गई गणनाओं के द्वारा देश की श्रम शक्ति, प्रयोगित श्रम शक्ति,दी हुई श्रम–कार्यक्षमता के आधार पर उद्योग की सही दिशा का ज्ञान प्राप्त होता है।

किन्तु श्रम–निवेश की गणना के लिए उपर्युक्त मापदण्ड को निश्चित करने से पूर्व नियोजन के ऑकड़ों के क्षेत्र के महत्वपूर्ण विषय पर भी विचार करना होता है। प्रतिवेदित रोजगार ऑकड़ों की पद्धति में,विशेष कर जब आंकलन में दो देश अथवा एक निजी क्षेत्र की फर्म तथा एक सार्वजनिक क्षेत्र की फर्म सम्मिलित हो तो अत्यधिक असमता की सम्भावना होती है। आमतौर पर निजी फर्मों में आकस्मिक श्रम अथवा अनुरक्षण श्रम शक्ति को वेतन चिट्ठे पर नहीं दर्शाया जाता है। इसी प्रकार जब संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रम उत्पादकता की तुलना सोवियत रूस की श्रम उत्पादकता के साथ करनी हो तो सामान्य तुलनीय निष्कर्ष पर पहुॅचने के लिए श्रम–अंकों के योगकरण में अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। क्योंकि जब संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशिक्षार्थी तथा नौ–सिखुओं को भी मजदूरी कमाने वालों में सम्मिलित किया जाता है तो दूसरी ओर सोवियत रूस में इस वर्ग को शामिल नहीं किया जाता है। इसलिए इसमें बहुत अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है कि एक ओर जहॉ एक देश/फर्म के लिए सभी 'सहायक' तथा अप्रत्यक्ष श्रमिकों'को मजदूरी कमाने वालों में माना जाता है,तो उपयुक्त तुलना हेतु यह आवश्यक है कि इसी प्रकार की अवधारणा अन्य देश/फर्म में भी मानी जानी चाहिए। अन्य शब्दों में अध्ययन के उद्देश्य को सार्थक बनाने के लिए तथा यदि श्रमिकों के किसी निश्चित वर्ग को गणना में सम्मिलित करना हो तों इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि यह अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित उत्पादन की सभी इकाइयों के लिए उपयुक्त हो।

यह व्यापक रूप से ज्ञात है कि श्रम–निवेश व्यवसाय,कुशलता तथा अनुभव के रूप में इसकी रचना के अनुसार यथार्थ होगा तथा श्रम कार्य–घण्टों पर आधारित अध्ययन श्रम–शक्ति में गुणात्मक विभिन्नताओं को नहीं बतला सकते हैं तो भी एक सामान्य मापनीय इकाई के कौशल,रचना आदि को प्रदर्शित करने के लिए कुछ भारित–अवस्था को विकसित किया जाना चाहिए। सामान्यतः श्रम को प्रदत्त कीमत (अर्थात् मजदूरी,वेतन)को सभी प्रकार की कुशलता सम्बन्धी विभिन्नताओं के उपयुक्त

मापन में लिया गया है। तदापि अनेक अध्ययन श्रम निवेश,श्रम कौशल आदि के लिए एक मोटे अनुमान के तौर पर आधार वर्ष में दी गई औसत मजदूरी पर बल देते हैं।

पूँजी (Capital)

आर्थिक सिद्धान्त में पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान होने के बावदूर भी पूँजी अनुभवाश्रित विचार में अत्यधिक कठिन अवधारणा है। ऐसा करने के लिए इसके मापन में सांख्यकीय तथा वैचारिक समस्यायें अन्तर्निहित होती हैं। पूँजी विभिन्न प्रकार की पूँजी गत वस्तुओं–जिसमें प्रत्येक वस्तु की अपनी विशेषतायें तथा स्थायित्व होता है,की बनी हुई एक संयुक्त वस्तु है। यहॉ तक कि इस संयुक्त वस्तु में समय के साथ परिवर्तन भी होता रहता है। उदाहरणार्थ, इसमें भूमि,भवन,सड़क,रेलवे साइडिंग तथा संयन्त्र एवं मशीनरी को सम्मिलित करना होगा। संयन्त्र एवं मशीनरी में यदि एक मशीन उत्पादन उपयोग के बाहर हो जाती है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस मशीन का उसी किस्म की मशीन से प्रतिस्थापन किया जावे। इसे पूर्णतया एक विभिन्न किस्म की मशीन–जो अधिक उत्पादक तथा अधिक कीमती हो सकती है,के द्वारा प्रतिस्थापित की जा सकती है,पूँजी का एक भाग लम्बे समय तक सेवाओं में लगाया जा चुका हो तथा चूँकि भविष्य इतना निश्चित नहीं होता है, अतः पूँजी की सेवाओं तथा उपयोगिताओं को मापना कठिन है इसके अतिरिक्त पूँजी की उपयोगिता तथा उत्पादकता हर समय स्थिर नहीं रहती है।[1] तथापि उत्पादन प्रक्रिया के दौरान लगी हुई पूँजी की मात्रा अनेक कठिनाइयों से युक्त होती है। सर्वप्रथम तो पूँजी के बारे में सभी अपर्याप्त तथा दोशी सांख्यकीय प्रतिवेदन (भारत में A.S.I तथा C.M.I श्रंख्ला में ऐसा ही पाया जाता है) प्रयोगित पूँजी निवेश के मूल्यांकन को और अधिक कठिन बना देते हैं। A.S.I के प्रतिवेदन (घटाये हुए मूल्यों पर) स्थायी सम्पत्तियों के पुस्तक मूल्य (अर्थात् 'ऐतिहासिक मूल्य' जिसका तात्पर्य जब और जिस मूल्य पर पूँजी अंकित की गई है)के अनुसार लिखे गये हैं। पूँजी उत्पादकता की गणना करने के लिए ऐतिहासिक मूल्यों पर दी हुई घटे मूल्यों की पूँजी अधिक उपयोगी नहीं होती है;क्योंकि (1) मूल्य ह्रास का विषय पूर्ण रूप से व्यवहार तथा परम्पराओं का होता है तथा इसके लिए फर्में। देश अपनी स्वयं की नीतियॉ रखते हैं। तदापि निवेश से इस विवेकाधीन परिस्थिति को समाप्त करने के लिए यह अच्छा रहेगा कि हमेशा विशुद्ध पूँजी समंकों की अपेक्षा समग्र समंकों को प्रयोग में लाया जावे। दूसरी कठिनाई (2) है पूँजी के सम्पूर्ण स्टॉक को स्थिर आधार मूल्यों पर लाना। पूँजी का समायोजन उस समय एक पेचीदगी पूर्ण समस्या बन जाती है जबकि वह पूँजी सम्पत्तियों की संरचना आयु तथा मूल्य ह्रास की दर पर निर्भर करता है। विभिन्न उद्योगों में स्थायी सम्पत्तियों की

संरचना मूल्यों पर पर्याप्त सूचनाओं के अभाव में अच्छा यह होगा कि सम्पत्तियों के क्रया मूल्य तथा अपलिखित मूल्य के बारे में सूचना देने पहली फर्मों के एक आदर्श नमूने से एक विशेष वर्ष के लिए औसत सकल विशुद्ध अनुपात का मूल्यांकन करना होगा।[1] ''इस सकल विशुद्ध अनुपात के प्रयोग द्वारा हम सम्पत्तियों के पुस्तक मूल्य को 1960 के लिए सकल मूल्य में बदलने में समर्थ होंगे (जैसा कि A.S.I प्रतिवेदन में है)। पूँजी स्टॉक में सकल वार्शिक वृद्धि समंकों के प्रयोग द्वारा अब हम प्रत्येक अग्रिम तथा पिछले वर्ष के लिए सकल मल्यों का निर्माण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, 1963 के लिए एक विशेष उद्योग में सम्पत्तियों का सकल मूल्य इस प्रकार प्राप्त किया गया है–

$$Gi'^{60} = Ni'^{63} + Ai'^{63}$$

जबकि G= सकल मूल्य (Gross value)

छत्र विशुद्ध मूल्य (ह्रासित पुस्तक मूल्य)

तत्र सकल विशुद्ध अनुपात 1960 के लिए (Gross-net ratia for 1960)

A=एक वर्ष के दौरान पूँजी स्टॉक का समग्र योग वर्षों को अधोलिखित प्रकार से बतलाया है।

1963 के दौरान सकल मूल्यों की वृद्धियॉ इस प्रकार से परिभाशित की गई हैं–

$Gi^{63} = Ni^{63}\, oNi^{62} + di^{63}$

जबकि एक पत्र सम्पत्तियॉ प के विशेष वर्ग पर सम्बन्धित वर्ष के लिए अनुमति युक्त मूल्यह्रास।

इस प्रकार सम्पत्तियों के समग्र मूल्य प्राप्त करने पर हमारा अगला कदम पूँजी के लिए एक उपयुक्त मूल्य सूचकांक द्वारा इसे अपस्फित करना है। संक्षेप में इस पूँजी को स्थिर आधार मूल्यों पर व्यवस्थित करना है। इसके लिए अनेक समायोजनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के समायोजन ऊपर भी बतलाये गये हैं।

एक वर्ष में पूँजी सेवाओं के उपयोग मापन हेतू यह कल्पना की गई है कि पूँजी तथा उसकी सेवाओं के प्रवाह के बीच एक स्थिर सम्बन्ध है जिसे आधार वर्ष में प्राप्त प्रतिफल की दर द्वारा मापा जा सकता है।[2] जब पूँजी स्टॉक (स्थिर मूल्यों में प्रमाणित) को आधार वर्ष के प्रतिफल की दर पर भारित किया गया हो तो इससे उस मूल्य की व्युत्पत्ति होती है जो आधार वर्ष के क्षमता स्तर पर संचालित प्रत्येक इकाई द्वारा उत्पादित माल को मापता है।

अन्य निवेश(other inputs)

कुछ अध्ययनों में कच्चे माल तथा ईंधन के प्रयोग में भी कुशलता मापने पर जोर दिया जाएगा। किन्तु ये निवेश सापेक्षिकतया गणना करने में आसान होते हैं। एक वर्ष में इसकी क्रय राशि सामान्यतःइन समर्पित निवेशों की श्रृंख्ला को प्रतिबिम्बित करती है तथा उनके लिए एक दिये हुए विश्वसनीय मूल्य सूचकांक की सहायता से उन्हें कच्चे माल की स्थिर मूल्य श्रृंखलाओं के अन्तर्गत परिवर्तित किया जा सकता है तथा इसी के अनुसार ईंधन के लिए भी किया जा सकता है।

विगत पृश्ठों में अनेक कठिनाइयों से निपटने का प्रयास किया गया है। उत्पादकता तथा लागत फलन गणनाओं के लिए पूर्व के ऑकड़े उपयुक्त हैं तथा तुलनीय रूप में व्यक्त भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार उपलब्ध आवश्यक ऑकड़ों के अनुसार कुल उत्पादकता की गणना के लिए आगे बढ़ा जा सकता है जो कि निम्नांकित विवेचन में उद्धृत किया गया है सूत्र जो कि 'उत्पादकता की अवधारणा' में दिया गया है,वह है–

कुल साधन उत्पादकता

(Total Sector Productivity) $\frac{V}{W.L+r.K}$

जबकि V= सम्मिलित मूल्य (उत्पाद)

W= मजदूरी दर (आधार अवधि में भारित)

L= श्रम घण्टों की संख्या

r= पूँजी पर प्रत्याय दर (आधार वर्ष)

K =पूँजी (स्थिर मूल्यों पर समायोजित और घटाई हुई)

निम्नांकित सारिणी में सरिता स्टील संयन्त्र तथा इसकी कुल उत्पादकता पर कुल वास्तविक ऑकड़े दिये गये हैं:

सरिता इस्पात संयन्त्र

कुल साधन उत्पादकता के लिए आधारभूत समंक

वर्ष	वास्तविक श्रम (Man Actually Worked)	अनुमानित श्रम निवेश	स्थिर मूल्यों पर कुल स्थिर पूँजी	अनुमानित पूँजी निवेश	अनुमानित उत्पाद	वास्तविक सरल उत्पाद (Value added)
1998–99	53822	66.48	2060.7	172.82	239.30	239.30
1999–00	53822	66.48	2344.8	194.61	261.09	249.48
2000–01	51739	63.91	2627.6	218.09	282.00	264.46
2001–02	49768	61.47	2978.3	246.78	308.25	395.77
2002–03	48119	59.44	3224.5	267.63	327.07	381.63
2003–04	46934	57.97	3284.0	272.57	330.54	319.43
2004–05	46986	57.30	3316.5	275.27	314.57	401.40
2005–06	46420	57.34	3345.9	277.71	335.05	410.27
2006–07	49538	61.19	3501.4	290.61	351.80	409.06
2007–08	49914	61.65	3567.6	296.11	357.76	485.27
2008–09	49914	61.65	3652.3	303.14	364.79	433.29
Col.no.	(M.Rs.) (1)	(M.Rs.) (2)	(M.Rs.) (3)	(M.Rs.) (4)	(M.Rs.) (5)	(M.Rs.) (6)

आधार अवधि

भारित Rs.1235.18 .083

कुल साधन उत्पादकता की गणना अब इस प्रकार की जा सकती है।त्र $\frac{\text{Co1.6}}{\text{Co1.5}}$

वर्ष	Co1.6 / Co1.5
1998–99	1.00
1999–00	0.96
2000–01	0.94
2001–02	1.28
2002–03	1.17
2003–04	0.97
2004–05	1.28
2005–06	1.22
2006–07	1.16
2007–08	1.36
2008–09	1.19

इस प्रकार यह स्पष्टरूप से देखा जा सकता है कि कुल साधन उत्पादकता में कभी वृद्धि तथा कभी कमी की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। किन्तु यदि प्रथम तीन वर्शों का औसत लिया जाय तथा इसकी अन्तिम तीन वर्शों के औसत के साथ तुलना की जावे तो शीघ्र ही यह आभास होगा कि 1998–99 तथा 2008–09 की अवधि के दौरान सरिता इस्पात संयन्त्र में उत्पादकता में वृद्धि की प्रवृत्ति रही है तो भी वृद्धि में निरन्तरता तथा संगतता नहीं रही है।

जहॉ तक सारणी में प्रत्येक पंक्ति के विवेचन का प्रश्न है तो उनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता हैः

पंक्ति 1 (Col.1)– इस पंक्ति में कुछ श्रम–कार्य घण्टों को वास्तविक उपलब्ध व्यक्तियों की कुल संख्या के रूप में बतलाया गया है। जैसा कृत्रिमता के बारे में पूर्व में ही विवेचित किया जा चुका है,यद्यपि वांछनीय है किन्तु फिर भी सरिता इस्पात संयन्त्र में ऑकड़ों की सीमाओं को छोड़ा नही जा सकता।

पंक्ति 2 (Col.2)– यह कॉलम आधार वर्ष के भार (Rs.1235.18) की उपलब्ध व्यक्तियों की कुल संख्या के साथ गुणा करके प्राप्त किया गया है। यह हमें स्थिर दरों पर पूँजी निवेश के सही दृष्टिकोण का एक अनुमान प्रस्तुत करता है। भार इस प्रकार उपलब्ध किया गया है–

आधार वर्ष के कुल मजदूरी बिल को आधार वर्ष में वास्तविक नियोजित व्यकितयों की कुल संख्या के द्वारा विभाजित करके प्राप्त किया गया है।

पंक्ति 3 (Col.3)– सरिता इस्पात संयन्त्र में सकल स्थायी तथा स्थिर रूप में पूँजी प्रदान की जाने वाली राशि को बतलाया गया है।

पंक्ति 4 (Col.4)–को ब्वसण्3 के आधार वर्ष के भार (Rs.0.083) (पूँजी पर प्रत्याय दर) द्वारा गुणा करे उपलब्ध किया गया है।

पंक्ति 5 (Col.5)–इसे ब्वसण्2 तथा ब्वसण्4 का योग करके प्राप्त किया है। यह दिये गये आधार वर्ष की कुशलता तथा सम्बन्धित अवधि के लिए आवश्यक साधनों के अनुमानित उत्पादन को व्यक्त करता है।

~~पंक्ति 6~~ Col.6 कुल साधन उत्पादकता; दूसरे द्वारा अनुमानित उत्पादन के साथ
पंक्ति 5 Col.5

वास्तविक उत्पादन की तुलना की जाती है और फिर उससे कुशलता/उत्पादकता के बढ़ने या घटने का ज्ञान प्राप्त होता है।

इसी प्रकार यदि कोई श्रम–अनुपातों की आंशिक उत्पादकता को जो Y/L है,जानने में रूचि रखता हो अथवा पूँजी की आंशिक उत्पादकता को जो टध्ज्ञ है, जानने में रूचि रखता हो,तो सारिणी उनको प्राप्त करने में निश्चित ही सहायता कर सकती है। उदाहरणार्थ, **Y/L** को प्राप्त करने के लिए Col.6 को Col.1 के द्वारा विभाजित किया जा सकता है; तथा पूँजी उत्पादकता को प्राप्त करने में Col.6 को Col.3द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

उत्पादकता की गणना क्रिया में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि यदि उत्पादन को सकल सम्मिलित मूल्य के रूपों में लिया गया है (जैसा कि हमने उपर्युक्त उदाहरण में लिया है) तब पूँजी का भी सकल रूप में ही प्राकलन किया जाना चाहिए जैसा कि हम उपर्युक्त उदाहरणों से कर चुके

हैं। यदि इसके बावजूद भी विभिन्न क्षेत्रों के लिए विशुद्ध उत्पादन की सहायता से गणना की जानी हो तो (अर्थात् सकल सम्मिलित मूल्य–मूल्य ह्रास)तब शुद्ध पूँजी को ही आंशिक तथा कुल साधन उत्पादकता गणनाओं,दोनों के लिए, लिया जाना चाहिए।

लागत फलन (Cost Functions)

लागत फलन को ठीक बैठाने के लिए कम से कम दो चरों के लिए ऑकड़ों की एक श्रृंखला की आवश्यकता होती है। अध्ययन में अनेक वर्शों के लिए ये दो चर कुल उत्पादन (या तो मात्रा अथवा मूल्य के रूप में) तथा कुल लागत हैं। दिये हुए इस समंक से एक समयावधि में इन दोनों चरों के बीच सम्बन्धता को मालूम करने पर विचार किया जा सकता है। यह विधि रेखीय अथवा द्विघाती (Cubic) अथवा अन्य किसी दूसरे रूप में भी हो सकती है। किसी भी रूप के एक वक्र में वास्तविक व्यवस्थित करने से पूर्व यह निम्न रूपों में हो सकता है–

$x_1=b_1+b_2x_2$ अथवा एक रूप में जैसे,

$x_1=b_1+b_2x_2+b_3x2^2+b4x2^3$

(जबकि x_1 कुल लागत $_{X1}$ उत्पादन है तथा b_1,b_2,b_3आदि)

अनुभवाधारित आकलिक करने की आवश्यकता के लिए समंकों को रेखीय दृष्टि से अंकित किया जा सकता है अर्थात् कुल लागत को Y axis पर तथा कुल उत्पादन के X axis पर अंकित करना होता है। यदि परिणामी बिन्दु अपने समंजन का एक रेखीय वितरण के रूप में प्रदर्शित करे तो इसके लिए एक फलन को $x_1=b_1+b_2x_2$ के रूप में व्यवस्थित करने के लिए कोशिश करना महत्वपूर्ण होगा तथा यह देखना कि रेखीय दृष्टि से क्या प्रदर्शित किया है जो मूल्यों को व्यवस्थित करने तथा R^2 के मूल्यों के द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

ठीक इसी की जॉच करने हेतु कुल लागत तथा तदनुरूप प्रेक्षण के लिए उत्पादन की प्राप्ती के द्वारा भी प्रयास किया जा सकता है। तथा फिर इन बिन्दुओं को ग्राफ पर अंकित करना होता है। यदि बिन्दुओं का अंकन एक क्षितीजीय व्यवस्था को प्रदर्शित करे जो करीब–करीब X axis के समानान्तर होता है, तो इसका तात्पर्य होगा कि उत्पादन वृद्धि के साथ परमिट लागत तथा उत्पादन के मध्य रेखीय सम्बन्धता का विषय है। अधिकांश अनुभवजनित अध्ययनों में इस रेखीय सम्बन्ध को दर्शाया

गया है। इसीलिए,यदि एक रेखीय फलन के द्वारा इसे प्रारम्भ किया जाता है तो यह बहुत ही उपयुक्त होगा।

b_1तथा b_2 का अनुमान

एक सीधी रेखा का सरलतम गणितीय अभिव्यक्तिकरण $x_1=b_1+b_2x_2$ है।

यहॉ इसके लिए, (1)x_1=ykxr

(2)x_2=उत्पाद(Putput)

(3)b_1 तथा b_2 का अनूभवजनित निर्धारण होना है।

उपर्युक्त समीकरण को दो समीकरण को व्यवस्थित करके भी किया जा सकता है, जैसे–

$\sum Ex_1 = nb_1 + b_2Ex_2$.....(i)

$\sum Ex_2x1 = b_1Ex_2 + b_2Ex2^2$.....(ii)

इन समीकरणों में x_1 आश्रित चर है;x_2 स्वतन्त्र चर है; तथा n प्रेक्षकों (observation)की संख्या है,अब हम नीचे दिये हुए ऑकड़ों का एक सेट की सहायता से मूल्यों से प्रतिस्थापन के द्वारा b_1 तथा b_2 को मालूम किया जा सकता है।

एक काल्पनिक फर्म के लागत–उत्पाद ऑकड़े

वर्ष n	उत्पादन $=x_2$	कुल लागत हजार टनों में $=x_1$	ग उत्पादन सौ रूपये में $=x_1x_2$	(उत्पादन)^2 की कुल लागत $=x_2^2$	(कुललागत)^2 $=x_1^2$

2004	1.50	3.0	4.50	2.25	9.00
2005	1.00	2.5	2.50	1.00	6.25
2006	2.00	6.0	12.00	4.00	36.00
2007	1.50	2.0	3.00	2.25	4.00
2008	2.00	6.0	12.00	4.00	36.00
2009	2.00	6.6	13.20	4.00	43.65
n=6	Ex_2=10.00	$\sum Ex_1$=26.1	$\sum Ex_2x1$=47.20	$\sum Ex_2^2$=17-50	
$\sum Ex_1^2$=134.81					

इन मूल्यों को समीकरण (i) तथा (ii) में प्रतिस्थापित करने पर

$6b_1 = 10\ b_2$ =26.1.....(i)

$10b_1 = 17.5b_2$ =47.20.....(ii)

दो समकालिक समीकरणों के हल करने पर–

$6b_1 = 100\ b_2$ =261

$-60b_1 = 105b_2$ =283.20

इस प्रकार दो अज्ञात अंको को ज्ञात कर लिया जाता है तथा एक काल्पनिक फर्म के उपर्युक्त समंकों से उत्पन्न रेखीय आकार का समीकरण इस प्रकार है–

पाद टिप्पणी में दिये हुए सूत्र की उपयुक्तता को जॉच करने पर R^2=.774 प्राप्त होता है। जैसा कि यह मूल्य .5 से काफी अधिक है जो इसकी उपयुक्तता को व्यक्त करता है। यदि b_2 के लिए प्राप्त मूल्यों का कोई विश्लेषण करे तो इसका तात्पर्य है कि उत्पादन में यदि एक इकाई का परिवर्तन करना हो तो लागत में 4.44 इकाई के परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इस अपरिवर्तनीय आकार

का तात्पर्य होता है,सीमान्त लागत वक्र का क्षैतिजीय होना। यदि वक्र का यह समायोजन हमारे लिये अच्छा साबित नहीं होता है (अर्थात् यदि $R4^2$ ऊँचा नहीं हो) तो हमें अन्य फलनों जैसे त्रिघाती फलन (Cubic Function),अथवा द्विघाती फलन (Quadratic Function),के लिये प्रयास करना होगा। यह हमें तब तक करना होगा, जब तक कि हम लागत तथा उत्पादन के उपर्युक्त ऑकड़ों के मध्ये विद्यमान सम्बन्धता के वर्णन करने के लिए सही फलन की खोज न कर लें। अतः हमेशा एक विशेष प्रकार के वक्र की उपयुक्तता को मालूम करने से पूर्व एक ग्राफ पर बिन्दुओं को अंकित करने का परामर्श दिय जाता है ताकि उसकी सही उपयुक्तता साबित हो सके।

प्रश्न

1. उत्पादन गणना में तुलनीय ऑकड़ो की प्राप्ति में उत्पन्न बाधाओं का वर्णन कीजिये।
2. लागत फलन की धारणा को काल्पनिक उदाहरण से समाझाईये।

लागत उत्पादन सम्बन्ध(Cost Output Relation)

लागत उत्पादन सम्बन्ध का गहन अध्ययन प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के लिये आवश्यक है। समय के अनुसार लागतों को दो भागों में बॉटा जा सकता है,अल्पकालीन लागत तथा दीर्घकालीन लागत। प्रस्तुत अध्याय में हम अल्पकाल में लागत उत्पादन सम्बन्धक का अध्ययन करेंगे। अल्पकाल वह समयावधि है,जिसमें वस्तु की पूर्ति उत्पादन के वर्तमान पैमाने के अधिकतम प्रयोग तक बढ़ायी जा सकती है। अल्पकाल में एक उत्पादक के पास इतना समय होता है कि माँग बढ़ने पर वह वस्तु की पूर्ति उत्पादन के पैमाने के गहन प्रयोग तक बढ़ा सकता है तथा माँग में कमी आने पर वर्तमान उत्पादन के पैमाने का कम प्रयोग करके पूर्ति को कम कर सकता है। इस समयावधि में फर्म के पास इतना समय नहीं होता है कि वह वस्तु की माँग बढ़ने पर अपने उत्पत्ति के पैमाने को बदल सके। इस अवधि में संस्था परिवर्तनशील साधनों की मात्रा मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है लेकिन स्थिर उत्पादन के साधनों में परिवर्तन सम्भव नहीं है।

अल्पकाल में उद्योग में नई फर्म प्रवेश नहीं कर सकती है तथा न ही उद्योग में लगी फर्में बहिर्गमन कर सकती हैं। इस अवधिक में मूल्य निर्धारण करते समय स्थिर लागतों पर विचार नहीं किया जाता है,क्योंकि यदि मूल्य स्थिर लागतों को पूरा नहीं करता है तब भी फर्म इस अवधि में उत्पादन जारी

रखती है,बशर्ते फर्म को औसत परिवर्तनशील लागतों से अधिक मूल्य प्राप्त होता हो। **सैवेज एवं स्माल** के शब्दों में,''अल्पकाल वह अवधि है जिसमें उत्पादन के कम से कम एक साधन की पूर्ति स्थिर होती है,अतः फर्म की उस साधन की उपलब्ध पूर्ति में परिवर्तन सम्भव नहीं होता है।'' अल्पकाल में उत्पादन के साधनों को दो वर्गों में बॉटा जा सकता है–स्थिर तथा परिवर्तनशील साधना। स्थिर उत्पादन के साधन उन्हें कहते हैं जिन्हें अल्पकाल में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है,इसके विपरीत परिवर्तनशील उत्पादन के साधनों की मात्रा में अल्पकाल में कमी या वृद्धि सम्भव है। अतः अल्पकाल में लागतों का उत्पादन से जो सम्बन्ध है,उसका अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है। अल्पकाल में औसत स्थिर लागतें,औसत परिवर्तनशील लागतें,औसत कुल लागत तथा सीमान्त लागत का अध्ययन किया जाता है। इन लागतों का विस्तृत वर्णन निम्न हैः

(1) कुल लागत (Total Cost)– किसी वस्तू के उत्पादन में जो कुल व्यव या खर्चा आता है उसे ही कुल लागत कहते हैं। दूसरे शब्दों में कुल स्थाई तथा कुल परिवर्तनशील लागत का जोड़ ही कुल लागत कहा जाता है। अल्पकाल में कुल लागत में परिवर्तन केवल परिवर्तनशील लागतों के कारण ही होती है क्योंकि स्थाई लागतों में तो कोई परिवर्तन होता नहीं है। अब हम कुल लागत के इन दोनों महत्वपूर्ण भागों का अलग से अध्ययन करेंगेः

1. **कुल स्थिर लागत** (Total Fixed Cost)- वे लागतें जो फर्म के शून्य उत्पादन की स्थिति से लेकर अधिकतम सम्भव उत्पादन तक स्थिति तक स्थिर रहती हैं, कुल स्थाई लागत कहलाती हैं। ये वे लागतें होती हैं जो होंगी ही अर्थात् जिनका होना अवश्यम्भावी है। दूसरे शब्दों में ये वे लागतें हैं जिनको टाला नहीं जा सकता है,जो होंगी ही चाहे उत्पादन हो या नहीं हो,अथवा उत्पादन कम हो या ज्यादा हो। इन लागतों को अल्पकाल में कुछ समय के लिये उत्पादन बन्द करने पर भी चुकाना पड़ता है।
2. **कुल परिवर्तनशील लागतें** (Total Vafiable Cost)- ऐसी लागतों का योग जो अल्पकाल में उत्पादन मात्रा बढ़ने–घटने के साथ परिवर्तित होती रहती है, कुल परिवर्तनशील लागतों के नाम से जानी जाती है। कुल परिवर्तनशील लागतों के उदाहरण हैं– सामग्री, श्रम,ईंधन आदि। यदि फर्म कोई उत्पादन नहीं करे तो कुल परिवर्तनशील लागतें घटती दर से बढ़ेंगी। यदि फर्म के यहॉ उत्पादन स्थिरता नियम क्रियाशील है तो कुल परिवर्तनशील लागतें समान दर से बढ़ेंगी तथा इसके विपरीत यदि फर्म के यहॉ उत्पादन ह्रास नियम क्रियाशील है तो

कुल परिवर्तनशील लागत अधिक दर से बढ़ेंगी।

3. चित्र द्वारा स्पश्टीकरण

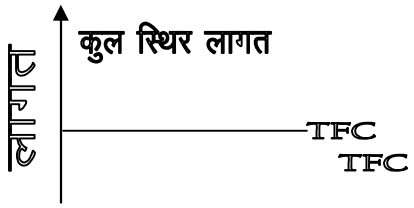

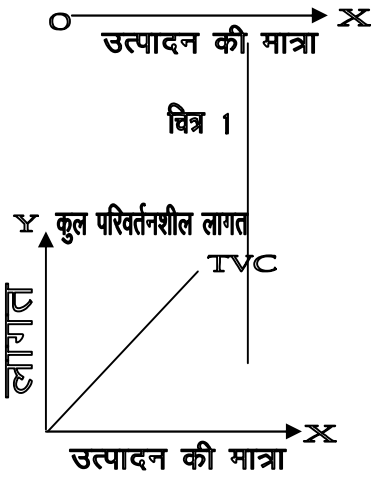

चित्र 1

चित्र 2

अब हम कुल स्थाई लागत तथा कुल परिवर्तनशील लागत के स्वभाव को चित्र की सहायता से समझने का प्रयास करेंगे।

उपर्युक्त चित्र संख्या 1 में कुल स्थाई लागत को बताया गया है। जैसा कि हम जानते हैं कि कुल स्थाई लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता है,वह स्थिर सहती है चाहे उत्पादन बढ़े या घटे; अतः स्थिर लागत रेखाचित्र में एक पड़ी रेखा के रूप में है। कुल परिवर्तनशील लागत उत्पादन घटने पर घटती है तथा उत्पादन बढ़ने पर बढ़ती है, अतः वह शून्य से प्रारम्भ होती है तथा बढ़ते हुये क्रम में होती है जैसा कि चित्र संख्या 2 में दर्शाया गया है।

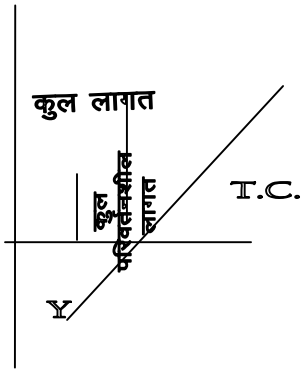

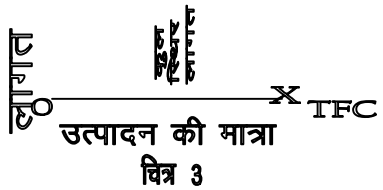

चित्र 3

कुल लागत स्थिर लागत तथा पवितर्नशील लागत का योग होती है, अतः यदि इसे चित्र में दिखाया जाय तो शून्य उत्पादन के स्थान पर कुल स्थिर लागत के बराबर होगी तथा फिर जैसे–जैसे उत्पादन बढ़ेगा कुल लागत भी बढ़ती जायेगी जैसा कि चित्र संख्या 3 से स्पष्ट है।

स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में अन्तर

1. किसी भी वस्तु का उत्पादन करते समय स्थाई एवं परिवर्तनशील दोनों लागतें व्यय करनी पड़ती है। स्थाई लागतों का योग उत्पादन की मात्रा के घटने अथवा बढ़ने से अप्रभावित रहता है,लेकिन प्रति इकाई स्थाई लागतें कम हो जाती हैं यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ती है। यदि उत्पादन की मात्रा घटती है तो स्थाई लागतें प्रति इकाई बढ़ जाती है।
2. परिवर्तनशील लागतों का योग उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर बढ़ता है तथा उत्पादन की मात्रा घटने पर घटता है, लेकिन उत्पादन की मात्रा घटने या बढ़ने से परिवर्तनशील लागत प्रति इकाई अपरिवर्तित रहती है।
3. लागतों का यह भेद (स्थाई एवं परिवर्तनशील) केवल अल्पकाल में ही पाया जाता है,दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील ही होती हैं।
4. स्थाई एवं परिवर्तनशील लागत में अन्तर की कोई स्पष्टरेखा खींचना व्यावहारिक नहीं है क्योंकि इन दोनों लागतों में अनतर केवल श्रेणी का होता है।
5. अल्पकाल में मूल्य निर्धारित करते समय केवल परिवर्तनशील लागतें ही महत्वपूर्ण होती हैं जबकि दीर्घकाल में स्थिर तथा परिवर्तनशील दोनों तरह की लागतें समान महत्व रखती हैं।

स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों के अन्तर का मूल्य–निर्धारण में महत्व

अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में स्थाई एवं परिवर्तनशील लागतों का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि निम्न मूल्य सम्बन्धी निर्णय इन लागतों में अन्तर करके सही तरीके से लिये जा सकते हैं :

1. **अल्पकाल के लिये उत्पादन चालू रखें या बन्द करें**–यदि फर्म को कम से कम कुल परिवर्तनशील लागत प्राप्त हो रही है तो फर्म उत्पादन जारी रखेगी अन्यथा फर्म के लिये उत्पादन बन्द करना ज्ञेश्ठ है।
2. **नीचे मूल्य पर प्रस्ताव को स्वीकार किया जाय अथवा नीचे मूल्य पर टेण्डर प्रस्तुत किया जाय या नहीं**–कभी–कभी किसी फर्म की सामान्य उत्पादन एवं विक्रय क्षमता निश्क्रिय रहती है। ऐसी स्थिति में यह समस्या सामने आती है कि क्या वर्तमान क्षमता को बढ़ाना उपयुक्त होगा, जबकि बढ़ा हुआ उत्पादन नीचे मूल्य पर ही बेचा जा सकता है। नीचा मूल्य क्या हो?

यह परिवर्तनशील लागत पर निर्भर है। फर्म कम से कम नीचा मूल्य वह रखेगी जिस पर उसे परिवर्तनशील लागत से कुछ अधिक अंशदान (Contribution) के रूप में प्राप्त होता हो।

3. **निर्यात हेतू उत्पादों का मूल्य निर्धारित करने के लिये–** संस्था अपनी परिवर्तनशील तथा स्थिर लागत देशी बाजार से वसूल करके निर्यात हेतू केवल परिवर्तनशील लागत एवं लाभ को ही मूल्य का आधार निर्धारित कर सकती है।

प्रति इकाई लागतें

(Per Unit Cost)

अल्पकालीन लागतों को प्रति इकाई लागतों के रूप में निम्न वर्गों में बॉटा जा सकता है :

1. औसत स्थाई लागत (Average Fixed Cost)
2. औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost)
3. औसत कुल लागत (Average Total Cost)
4. सीमान्त लागत (Marginal Cost)

अब हम उपर्युक्त चारों प्रकार की लागतों का उत्पादन से जो सम्बन्ध है, उसका अध्ययन करेंगे :

1- **औसत स्थाई लागतें एवं उत्पादन–**यदि हम वस्तु की कुल स्थाई लागत में उत्पादित इकाइयों का भाग दे दे ंतो हमें औसत स्थाई लागत प्राप्त हो जायेंगी। यह लागत उत्पादन की मात्रा के विपरीत दिशा में परिवर्तित होती है अर्थात् यदि उत्पादन की मात्रा बढ़ती है तो औसत स्थाई लागत घट जाती है और उत्पादन की मात्रा घटने पर औसत लागत प्रति इकाई बढ़ जायेगी। उत्पादन बढ़ने पर औसत स्थायी लागत इसलिये बढ़ती है क्योंकि स्थायी लागत अधिक इकाईयों में बंट जाती है। यदि औसत स्थाई लागत को ग्राफ पेपर पर दिखाया जाय तो इसकी आकृति आयत अधीन्द्र (Rectangular hyperbola) की होगी। औसत स्थाई लागत ज्ञात करने का निम्न सूत्र है :

Total Fixed Cost

$$\text{Average Fixed Cost} = \frac{\text{Total Fixed Cost}}{\text{Quantity}}$$

2. **औसत परिवर्तनशील लागतें एवं उत्पादन**–यदि हम वस्तु की कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादन की मात्रा का भाग दे दे ंतो हमें औसत परिवर्तनशील लागत प्राप्त होगी। यह लागत उत्पत्ति के नियमों अथवा परिवर्तनशील अनुपातों के नियमों से प्रभावित होती है। व्यवसाय की प्रारम्भिक अवस्था में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है; अतः इस लागत का स्वभाव घटते हुये क्रम में होता है। उत्पत्ति स्थिरता नियम लागू होने पर यह लागत उत्पादन की मात्रा के अनुपात में घटती बढ़ती है। जब फर्म के यहॉ उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है तो यह लागत बढ़तें हुये क्रम में होती है। अतः औसत परिवर्तनशील लागत को यदि ग्राफ पर दिखाया जाय तो यह अंग्रेजी के अक्षर U का स्वरूप धारण करती है। इस लागत को ज्ञात करने का सूत्र निम्न होगाः

$$\text{Average Varible Cost} = \frac{\text{Total Varible Cost}}{\text{Quantity}}$$

(iii) औसत कुल लागत एवं उत्पादन–यदि किसी वस्तु की कुल लागत में उत्पादित मात्रा का भाग दे दिया जाय तो हमें उस वस्तु की औसत कुल लागत ज्ञात होगी। इसे ज्ञात करने का निम्न सूत्र हैः

$$\text{Average Total Cost} = \frac{\text{Total Cost}}{\text{Quantity}}$$

औसत कुल लागत औसत स्थाई लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत का योग होती है अतः हम औसत कुल लागत को निम्न सूत्र से भी ज्ञात कर सकते हैं :

Average Total Cost = Average Variable Cost + Average Fixed Cost

यदि फर्म के यहॉ लागत ह्रास नियम प्रभाव में हो तो औसत कुल लागत औसत परिवर्तनशील लागत के घटने के कारण घटेगी बाद में औसत परिवर्तनशील लागत के बढ़ने, पर भी कुछ अल्प अवधि के लिए घट सकती है। यदि फर्म के यहॉ लागत वृद्धि नियम प्रभावी हो तो यह लागत बढ़ेगी। इस लागत को यदि ग्राफ पेपर पर दिखायें तो अंग्रेजी के U का आकार बनेगा।

(iv) **सीमान्त लागत एवं उत्पादन**–जैसा कि हम जानते हैं कि उत्पादन की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि करने पर लागत में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्तज लागत कहते हैं। उत्पादन की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि होने पर केवल परिवर्तनशील लागत ही बढ़ती है; अतः स्थाई लागतों का सीमान्त लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

उदाहरण

औसत स्थाई लागत,औसत परिवर्तनशील लागत,औसत कुल लागत तथा सीमान्त लागत का उत्पादन से जो सम्बन्ध है उसे निम्न तालिका के द्वारा समझा जा सकता है।

उत्पादन की मात्रा	कुल लागतें			औसत लागतें			सीमान्त लागत
							Margina-Nal Cost
0	200	0	200	00	0	00	
1	200	20	220	200	20	220	20
2	200	40	240	100	20	120	20
3	200	50	250	66.7	16.7	83.3	10
4	200	60	260	50	15	65	10

5	200	75	275	40	15	55	15
6	200	90	290	33.3	15	48.3	15
7	200	110	310	28.6	15.6	44.3	20
8	200	140	340	25	17.5	42.5	30
9	200	180	380	22.2	20	42.2	40
10	200	230	430	20	23	43.0	50

उपर्युक्त सारणी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शून्य उत्पादन की स्थिति पर औसत स्थाई लागत अनन्त है तथा वस्तु की एक इकाई का उत्पादन होने पर 200 रू. है,दो इकाइयों को उत्पादन पर 100 रु.,तीन इकाइयों के उत्पादन पर 66त्र70 रु. है तथा जैसे–जैसे उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है औसत स्थाई लागत घटती जाती है। औसत परिवर्तनशील लागत वस्तू की चार इकाइयों तक घटती है,पॉचवीं तथा छठी इकाइयों तक स्थिर रहती है तथा फिर बढ़ने लगती है। औसत कुल लागत वस्तु की 9 इकाइयों के उत्पादन तक घट रही है,क्योंकि फर्म के यहॉ ह्रास नियम प्रभावी है, फिर बढ़ रही है क्योंकि फर्म के यहॉ लागत वृद्धि नियम प्रभावी है। सीमान्त लागत उत्पादन की तीन इकाइयों तक घट रही है फिर उत्पादन की चौथी इकाई पर स्थिर है तथा पॉचवीं इकाई से बढ़ रही है।

अल्पकालीन औसत लागत रेखाओं का चित्र द्वारा निरूपण

विभिन्न अल्पकालीन औसत लागत रेखाओं को उपर्युक्त चित्र द्वारा समझा जा सकता है। चित्र 4 में AFC औसत स्थिर लागत रेखा है जो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ निरन्तर घट रही है। चित्र में AVC औसत परिवर्तनशील लागत रेखा है जो उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में गिरती है फिर बढ़ने लगती है। चित्र में ATC औसत कुल लागत रेखा है जो AVC के ऊपर स्थित है। AVC तथा ATC दोनों रेखायें अंग्रेजी के U की तरह है।

विभिन्न तरह की औसत लागतों में सम्बन्ध–विभिन्न तरह की औसत लागतों के सम्बन्धों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है :

(1) औसत कुल लागत, औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत स्थिर लागत का जोड़ होती है। अतः औसत कुल लागत उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर इन दोनों रेखाओं के ऊपर स्थित होती है।

(2) औसत कुल लागत रेखा को औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत स्थिर लागत को जोड़ कर भी ज्ञात किया जा सकता है।

(3) औसत कुल लागत रेखा, औसत परिवर्तनशील लागत रेखा से उतनी ही दूर होती है जितनी औसत स्थिर रेखा आधार रेखा से दूर होती है।

(4) औसत स्थिर रेखा का स्वभाव आधार रेखा के निकट आने का होता लेकिन यह रेखा आधार रेखा को कभी छू नहीं सकती है।

(5) जब औसत परिवर्तनशील लागत गिरती हुई होती है तो औसत कुल लागत भी गिरती हुई होती है, लेकिन जब औसत परिवर्तनशील लागत बढ़ने लगती है तो केवल कुछ अल्प समय के लिए औसत स्थिर लागत रेखा के गिरती हुई होने के कारण गिरती रहती है। अतः इस तथ्य को इस तरह से भी कह सकते हैं कि औसत परिवर्तनशील रेखा पहले बढ़ने लगती है तथा बाद में औसत कुल लागत रेखा बढ़ना प्रारम्भ होती है।

(6) औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत कुल लागत का स्वरूप अंग्रेजी के ∩ की तरह का होता है जबकि औसत स्थिर लागत गिरती हुई होती है।

औसत लागत रेखा तथा सीमान्त रेखा में सम्बन्ध–औसत लागत रेखा तथा सीमान्त लागत रेखा में निकट का सम्बन्ध होता है

(1) सीमान्त लागत रेखा एवं औसत लागत रेखा दोनों का स्वरूप एक समान होता है। ये दोनों रेखाएँ अंग्रेजी के U के आकार की होती हैं।

(2) जब सीमान्त लागत रेखा गिरती है तो औसत लागत रेखा से तेज गति से गिरती है एवं जब सीमान्त लागत रेखा बढ़ती है तो औसत लागत रेखा से तेज गति से बढ़ती है।

(3) सीमान्त लागत रेखा औसत लागत रेखा से पहले ही अपने निम्नतम बिन्दु पर पहुँच जाती है जैसा कि चित्र के B बिन्दु से स्पष्ट है।

(4) औसत लागत रेखा सीमान्त लागत रेखा के बाद अपने निम्नतम बिन्दु पर पहुँचती है जैसा कि चित्र के C बिन्दु से स्पष्ट है।

(5) सीमान्त लागत रेखा औसत लागत रेखा को उसके निम्नतम बिन्दु पर काटती हैं।

अल्पकालीन लागत विश्लेषण का प्रबन्धकीय निर्णय में महत्व–लागत उत्पादन सम्बन्ध का प्रबन्धकीय निर्णय में बहुत अधिक महत्व होता है जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है:

(1)मूल्य निर्धारण–अल्पकालीन लागत विश्लेषण प्रबन्ध को यह बताते हैं कि उसे वस्तु का कम से कम औसत लागत के बराबर मूल्य रखना चाहिए।

(2) उत्पादन की कितनी क्षमता का प्रयोग किया जाय– यदि फर्म अपनी शत प्रतिशत उत्पादन क्षमता का प्रयोग नहीं कर रही है तो वह लागत उत्पादन सम्बन्ध के आधार पर अप्रयुक्त क्षमता के प्रयोग करने या नहीं करने के सम्बन्ध में निर्णय ले सकती है।

(3) फर्म के पुराने उत्पादनों के स्थान पर नये उत्पादनों का प्रतिस्थापन करें या नहीं करें–उत्पादन लागत विश्लेषण के आधार पर फर्म यह निर्णय कर सकती है कि फर्म पुरानी वस्तुओं का उत्पादन करे या नई वस्तुओं का उत्पादन करे।

(4)नये आदेश के सम्बन्ध में निर्णय लेना–यदि संस्था को कोई नया आदेश कम मूल्य पर मिल रहा है तो उस आदेश को स्वीकार करे या नहीं करे यह निर्णय भी उत्पादन लागत सम्बन्ध के आधार पर लिया जाता हैं

(5)पुरानी मशीन को चालू रखा जाय अथवा नई मशीन लगाई जाय– यह निर्णय भी दोनों मशीनों की उत्पादन लागत का विश्लेषण करके किया जाता है।

प्रश्न

1. अल्पकाल में लागत व उत्पादन सम्बन्ध को स्पष्टकीजिए।

   Explain the cost and output relation during short run.

2. अपरिवर्तनशील लागत, परिवर्तनशील लागत, कुल लागत तथा सीमान्त लागत के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

   Explain the relationship among fixed cost, variable cost, marginal cost and total cost.

3. अल्पकालीन लागतों से आप क्या समझते हैं? अल्पकालीन लागतों का प्रबन्ध के लिए महत्व बताइये।

   What do you mean by short period cost ? Explain the importance of short period cost to the management.

4. उत्पादन लागत सम्बन्ध पर एक टिप्पणी लिखिए।

Write a note on cost output relationship.

5. अल्पकालीन औसत लागत एवं अल्पकालीन सीमान्त लागत का सम्बन्ध समझाइये।

Explain relationship berween short-run average cost and short-run marginal cost.

6. दीर्घकाल में तथा अल्पकाल में लागत–उत्पादन सम्बन्धों को स्पष्टकीजिये।

Explain clearly the cost-output relationship in the long run and the short run.

दीर्घकालीन लागत वक्र

(Long Period Cost Curves)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से दीर्घकाल वह समयावधि होती है जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। दीर्घकाल की एक प्रमुख विशेष ता यह होती है कि इस अवधि में सभी उत्पादन के साधन परिवर्तनशील होते हैं अर्थात् कोई भी उत्पादन का साधन स्थिर नहीं रहता है। दीर्घकाल में उत्पादन के नये पैमाने को अपना सकती हैं तथा पुराने पैमाने को छोड़ सकती हैं। दीर्घकाल में यह सम्भव है कि एक उद्योग में कुछ नई फर्में प्रवेश ले लें तथा पुरानी फर्में उद्योग छोड़ कर बहिर्गमन कर लें। दीर्घकाल की अवधि में पूर्ति को पूर्णरूप से माँग के अनुसार समायोजित किया जा सकता है,अतःदीर्घकाल में मूल्य निर्धारित करते समय फर्मे परिवर्तनशील लागत तथा स्थिर लागत इन दोनों पर विचार करती हैं अर्थात् मूल्य निर्धारण का आधार कुल लागत होती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही होता है। दीर्घकाल में माँग व पूर्ति के सन्तुलन को दीर्घकालीन सन्तुलन तथा मूल्य को दीर्घकालीन मूल्य कहते हैं।

परिभाषा

''दीर्घकाल को वैकल्पिक अल्पकालीन स्थितियों,जिनमें से किसी में भी फर्म प्रवेश कर सकती है,की श्रृंखला के रूप में देखना ज्यादा उपयोगी होगा।..... दीर्घकाल की तुलना चलचित्र के क्रिया

अनुक्रम से की जा सकती है। यदि हम चलचित्र को रोककर केवल एक चित्र देखते हैं तो हमारे समक्ष केवल अल्पकाल की धारणा ही रह जाती है।''

—लेफ्टविच

''दीर्घकाल नियोजन—क्षितिज होता है। समस्त उत्पादन,वास्तव में समस्त आर्थिक क्रिया,अल्पकाल में घटित होती है।..... इस प्रकार दीर्घकाल समस्त सम्भव अल्पकालीन स्थितियों से बनता है जिनमें से एक आर्थिक साधन का चुनाव करना पड़ता है।''

—फर्गूसन

'' अनेक अल्पकालों के योग को ही दीर्घकाल कहते हैं।''

—डॉ. एन.के.शर्मा

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दीर्घकाल में कम्पनी अपने उत्पादन का पैमाना भी बदल सकती है। यह सत्य है कि साधारणतया उत्पादक अल्पकालीन लागतों पर ही ध्यान देता है क्योंकि ऐसा करना ही व्यावहारिक होता है,किन्तु अल्पकालीन लागतों पर ही ध्यान देता है क्योंकि ऐसा करना ही व्यावहारिक होता है,किन्तु फिर भी कम्पनी उद्योग के आकार के सम्बन्ध में निर्णय लेते समय उसकी भावी सम्भावनाओं का भी ध्यान रखा जाता है। इसी कारण दीर्घकाल को नियोजित काल भी कहते हैं तथा दीर्घकालीन लागत वक्र फर्म तथा संयन्त्र के आकार के लिये 'नियोजित वक्र' कही जाती हैं। दीर्घकालीन आर्थिक विश्लेषण में औसत लागत वक्र एवं सीमान्त लागत वक्र अधिक उपयोगी वक्र माने जाते हैं; अतः इन्हीं लागत वक्रों का दीर्घकालीन अध्ययन में उपयोग होता है।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long-run Average Cost Curve)—दीर्घकालीन कुल लागत में उत्पादित इकाईयों का भाग देने पर जो परिणाम प्राप्त होता है उसे ही दीर्घकालीन औसत लागत कहते हैं। जैसा कि हम परिभाषाओं का अध्ययन करते समय देख चुके हैं कि दीर्घकाल में उत्पादक फर्म अपने सभी उत्पादन साधनों में परिवर्तन कर सकती है; अतः फर्म का अल्पकालीन लागत वक्र भी परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार से प्रत्येक बार अलग तरह का लागत वक्र बनेगा।

उदाहरण

हमने यह माना है कि चीनी उद्योग की एक फर्म के सामने उत्पादन के तीन पैमानों के विकल्प उपलब्ध हैं इन तीनों पैमानों को क्रमशः छोटा,मध्यम तथा बड़े आकार के पैमाने की संज्ञा प्रदान की गई है। दीर्घकाल में एक फर्म इन तीनों विकल्पों में से किसी भी विकल्प को अपना सकती है। अब फर्म के सामने चुनाव की समस्या है। यह चुनाव का कार्य बहुत आसान है,क्योंकि दीर्घकाल में एक फर्म उत्पादन के पैमाने को अपनी माँग के अनुसार निर्धारित करेगी। इसका अर्थ यह है कि फर्म माँग अधिक होने पर बड़े पैमाने को चुनेगी और मॉग कम होने पर छोटे पैमाने को चुनना पसन्द करेगी। यहॉ फर्म उत्पादन का पैमाना चुनते समय इस बात का जरूर ध्यान रखेगी कि उत्पादन का पैमाने चुनते समय इस बात का जरूर ध्यान रखेगी कि उत्पाद का पैमाने ऐसा हो जिस पर वह वस्तु की उस मात्रा को यथासम्भव न्यूनतम लागत पर उत्पादित कर सके। इस तथ्य को निम्न चित्र 1 से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट होता है कि यदि फर्म को OB मात्रा तक उत्पादन करना है तो वह सबसे छोटे आकार के पैमाने को चुनेगी जो SAC_1 वक्र को दर्शाता है क्योंकि OB मात्रा का उत्पादन इसी पैमाने पर न्यूनतम लागत पर सम्भव है। उदाहरणार्थ OB मात्रा का उत्पादन फर्म के मध्यम आकार के संयन्त्र तथा छोटे आकार के संयन्त्र दोनों से ही सम्भव है,अर्थात~ SAC_1 ,oa SAC_2 दोनों वक्रों से सम्भव है,लेकिन फर्म SAC_2 पर औसत उत्पादन लागत AO है जबकि संयन्त्र का चुनाव करने पर औसत उत्पादन लागत AP होगी जो AO से अधिक है। यही नियम उस समय भी लागू होगा, यदि फर्म को OB से अधिक लेकिन OD तक उत्पादन करना हो। इस स्थिति में फर्म SAC_2 वाले संयन्त्र का प्रयोग करेगी क्योंकि इसी संयन्त्र का प्रयोग करने से फर्म की लागत न्यूनतम हो सकती है। उदाहरणार्थ यदि फर्म OC मात्रा का SAC_1 पर उत्पादन करे तो लागत OC होगी और यदि SAC_2 का प्रयोग करे तो लागत CR होगी जो CS से कम है। यदि OD मात्रा से अधिक उत्पादन करती है तो SAC_3 का चुनाव करेगी। उपर्युक्त अध्ययन से ज्ञात होता है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र विभिन्न उत्पादन संयन्त्रों को चुनने से भिन्न–भिन्न होगा,जो अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के उन भागों से बनता है जिन पर फर्म दीर्घकाल में उत्पादन करती है। फर्म के पास तीन सम्भावित उत्पादन के पैमाने होने के कारण यह वक्र टढ़ा–मेढ़ा है।

यदि फर्म के पास असंख्य उत्पादन के पैमाने उपलब्ध हों तो दीर्घकालीन उत्पादन लागत वक्र टेढ़ा–मेढ़ा नहीं होकर एक नियमित एवं सतत् वक्र के रूप में होगा। निम्न रेखाचित्र में एक ऐसे ही काल्पनिक दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की कल्पना की गई है। औसत लागत वक्र बनाया गया है। अल्पकालीन औसत लागत वक्रों की संख्या अधिक होने के कारण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का प्रत्येक बिन्दु किसी न किसी अल्पकालीप औसत लागत वक्र को छुता हुआ है। यदि फर्म दीर्घकाल के लिये वस्तु की कोई उत्पादन की मात्रा उत्पादित करना चाहति है तो वह अपनी उत्पादन मात्रा के अनुसार दीर्घकालीन लागत वक्र का एक बिन्दु चुन लेगी और उसी पैमाने के अनुरूप स्थापित कर लेगी। चित्र 2 ऐसा ही चित्र है जिसमें असंख्य अल्पकालीन लागत वक्र हैं।

चित्र 2 में यदि फर्म को OA मात्रा का उत्पादन करना है तो वह SAC_2 का चुनाव करेगी,क्योंकि तभी न्यूनतम लागत पर उत्पादन सम्भव है। यदि फर्म OB मात्रा में वस्तु का उत्पादन करना चाहती हो तो वह उस वक्र को चुनेगी जो इस स्थान पर LAC को काटता है चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक SAC वक्र को किसी न किसी स्थान पर LAC वक्र जरूर काटता है,यह वक्र SAC_3 है। अतः फर्म SAC_3 उत्पादन के पैमाने का चुनाव करेगी।

प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र को दीर्घकालीन औसत लागत वक्र कहीं न कहीं से अवश्य काटता है,इसी कारण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को आवरण चक्र (Envelope Curve) कहते हैं क्योंकि यह वक्र समस्त अल्पकालीप औसत लागत वक्रों को ढक लेता है। यदि हम दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का गहन अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगी कि वस्तु की अधिक मात्रा उत्पादित करने के लिये बड़े संयन्त्रों से न्यूनतम लागत पर उत्पादन किया जाना सम्भव है। किन्तु अधिक बड़े संयन्त्र से कम मात्रा का उत्पादन करने पर उत्पादन की लागत अधिक आयेगी क्योंकि उस बड़े संयन्त्र की उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग नहीं हो सकेगा। वस्तु की OA मात्रा को SAC_2 उत्पादन संयन्त्र पर ही न्यूनतम लागत पर उत्पादित किया जा सकता है। यदि OA उत्पादन मात्रा का SAC_5 संयन्त्र का प्रयोग किया जाय तो अधिक लागत आयेगी। क्योंकि SAC_5 संयन्त्र बड़ा है। यदि फर्म OD मात्रा का उत्पादन SAC_5 उत्पादन संयन्त्र के स्थान पर SAC_3 उत्पादन करेगी तो उत्पादन लागत अधिक आयेगी। ऐसा होना स्वाभाविक है,क्योंकि यदि फर्म अधिक उत्पादन मात्रा वाले संयन्त्र से कम मात्रा उत्पादित करेगी तो संयन्त्र की सम्पूर्ण उत्पादन क्षमता का प्रयोग नहीं हो सकेगा और

प्रति इकाई उत्पादन लागत अधिक होगी। इसी तरह से यदि फर्म कम उत्पादन क्षमता वाले संयन्त्र से अधिक उत्पादन करेगी तो भी उत्पादन लागत अधिक आयेगी क्योंकि क्षमता से अधिक उपयोग करने पर अनेक मितव्ययितायें उत्पन्न होंगी।

यदि हम दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की संरचना को देंखे तो हमें ज्ञात होगा कि इसकी बनावट अंग्रेजी के न शब्द जैसी है, लेकिन इसकी शक्ल अल्पकालीन औसत लागत वक्र की तुलना मे चपटी होती है। इसकी शक्ल चपटी होने काकारण यह है कि संयन्त्र के पैमाने में परिवर्तन करने पर प्रारम्भ में पैमाने का बढ़ता हुआ प्रतिफल लागू होता है,फिर पैमाने का स्थिरता नियम लागू होता है तथा अन्त में पैमाने का घटता हुआ नियम लागू होता है। चित्र में स-ब्ए्व्क मात्रा तक घट रही है। इसके पश्चात् स्थिर पैमाने का नियम लागू होने के कारण कुछ समय स्थिर है तथा तत्पश्चात् बढ़ने लगती है।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की एक और यह विशेषता होती है कि यह वक्र हमेशा ही अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को उनके न्यूनतम बिन्दुओं पर नहीं छूता है। चित्र से स्पष्ट है कि जब LAC वक्र नीचे को गिरता हुआ है,तब यह SAC वक्रों को उनके गिरते हुये भागों को स्पर्श करता हुआ है। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन OD से कम होने पर संयन्त्रों को उनकी न्यूनतम औसत लागत पर संचालित करना लाभप्रद नहीं है। चित्र में SAC_2 वक्र का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि वस्तु की OA मात्रा उत्पादित करने के लिये उसे ज बिन्दु पर छूता है जो कि SAB_2 के गिरते हुये भाग पर स्थित है जबकि SAC_2 का न्यूनतम बिन्दु तो V है। SAC_2 के T बिन्दु पर काटने का अर्थ यह है कि फर्म अपने संयन्त्र की कम उत्पादन क्षमता का प्रयोग कर रही है; अतः दीर्घकाल में फर्म के लिये OA की मात्रा से अधिक मात्रा का उत्पादन करना लाभप्रद नहीं होगा। अतः व्यवहार में OD से कम उत्पादन करने पर फर्म एक उचित स्तर के पैमाने का संयन्त्र लगा कर उसकी पूर्ण क्षमता कम स्तर पर उत्पादन करेगी।

यदि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र वृद्धि के क्रम में हो तो अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को यह वक्र बढ़ते हुये भाग को छुएगा अर्थात् वस्तु की व्क से अधिक मात्रा उत्पादित करने के लिये फर्म एक उचित स्तर का संयन्त्र लगाकर उसकी अनुकूलतम उत्पादन क्षमता से अधिक उत्पादन करना चाहेगी। यदि हम इस तथ्य को सरलता से कहना चाहें तो उपर्युक्त चित्र के SAC_7 के माध्यम से

कह सकते है। SAC_7 को देखने से ज्ञात होता है कि इसका न्यूनतम बिन्दु न है,जबकि LAC इसके W बिन्दु को स्पर्श कर रही है जो न के आगे है। अर्थात् फर्म इस स्थिति में अनुकुलतम बिन्दु से अधिक उत्पादन करेगी।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के अन्य स्वरूप

व्यवहार में दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अधिक समतल एवं नियमित होते है लेकिन कभी–कभी इस वक्र के अन्य स्वरूप भी हो सकते हैं। यहॉ तीन अन्य स्वरूपों का वर्णन किया गया है,जो निम्न हैं–

(a) क्षैतिज वक्र के रूप में

(b) बहुत कम उत्पादन पर अनुकूलतम स्तर वाला।

(c) बहुत अधिक उत्पादन करने पर अनुकुलतम बिन्दु प्राप्त होने वाला।

(a) क्षैतिज वक्र के रूप में–निम्न चित्र 3 में क्षैतिज वक्र वाली दीर्घकालीन औसत लागत वक्र रेखा दिखायी गई है। यहॉ यह एक सरल क्षैतिज रेखा है जो यह बताती है कि उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने पर स्थिर पैमाने का प्रतिफल नियम लागू होगा।

(b) बहुत कम उत्पादन पर अनुकुलतम स्तर वाला औसत आगम वक्र–अग्र वित्र संख्या 4 में एक ऐसा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र दिखाया गया है जो बहुत कम उत्पादन पर अनुकूलतम उत्पादन स्तर प्राप्त कर लेता है।

(c) बहुत अधिक उत्पादन करने पर अनुकूलतम बिन्दु प्राप्त करने वाला–चित्र संख्या 5 में एक ऐसा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है जिसका अनुकुलतम उत्पादन स्तर का बिन्दु बहुत अधिक उत्पादन करने पर प्राप्त होता है–

दीर्घकालीन औसत लागत रेखा की विशेषताएँ

(1) दीर्घकालीन औसत लागत रेखा,सभी अल्पकालीन औसत लागत रेखाओं को ढक देती है।

(2)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा सदैव अल्पकालीन औसत लागत रेखा से कम होती है,अतः चित्र में यह कभी भी अल्पकालीन औसत लागत रेखा से ऊपर नहीं होती।

(3)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा केवल अल्पकालीन औसत लागत रेखा को छूती है, काटती नहीं है।

(4)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा का न्यूनतम बिन्दु,उत्पादन की न्यूनतम लागत तथा फर्म के अनुकुलतम आकार को बताती है।

(5)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा तथा अल्पकालीन औसत लागत रेखा दोनों U आकार की होती हैं, लेकिन दीर्घकालीन औसत लागत रेखा अल्पकालीन औसत लागत रेखा अल्पकालीन औसत लागत रेखा से अधिक चपटी होती है।

(6)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा प्रत्येक सम्भावित उत्पादन मात्रा के लिये न्यूनतम सम्भावित लागत को दर्शाती है।

(7)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा सदैव ही अल्पकालीन औसत लागत रेखा को न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श नहीं करती है।

(8)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा फर्म के लिये लागत एवं उत्पादन के श्रेष्ठ अनुमान बताती है।

(2)दीर्घकालीन औसत लागत रेखा का स्परूप तथा आकार उद्योग में क्रियाशील उत्पादन के नियम पर निर्भर करता है।

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र

दीर्घकाल में स्थिर व परिवर्तनशील लागत का अन्तर ही समाप्त हो जाता है; अतः LMC व अल्पकालीन लागत वक्र में कोई अन्तर नहीं होता है। LMC उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई के कारण हुई कुल लागत की वृद्धि है। दीर्घकालीन सीमान्त लागत का अल्पकालीन सीमान्त वक्र की तुलना में चपटा हेाता है।

दीर्घकालीन औसत लागत तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत में सम्बन्ध–अल्पकाल तथा दीर्घकाल में दोनों रेखाओं में वही सम्बन्ध विद्यमान रहता है,अर्थात् यदि घटती है तो दीर्घकालीन औसत लागत में दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र अधिक तेजी से बढ़ती है।

प्रबन्धकीय महत्व

1. **उत्पादन के सर्वोतम आकार का निर्धारण करते समय**–इसके माध्यम से उत्पादन का सर्वोतम आकार निश्चित किया जा सकता है। उत्पादन का सर्वोतम आकार LMC के उस बिन्दु पर होगा जो निम्नतम है।
2. **उत्पादन के पैमाने में परिवर्तन करते समय**–जब कभी भी फर्म अपने उत्पादन के पैमाने में परिवर्तन करना चाहे तो दीर्घकालीन औसत लागत रेखा उपयोगी होती है।
3. **संयन्त्र के निर्माण एवं विस्तार सम्बन्धी निर्णय**–दीर्घकालीन लागत विश्लेषण के माध्यम से प्रबन्धक संयन्त्र का आकार निश्चित कर सकता है। क्या पूराने संयन्त्र के स्थान पर छोटा संयन्त्र लगाया जाय या पुराने संयन्त्र का ही विस्तार किया जाय अथवा नया बड़ा संयन्त्र लगाया जाय। उपर्युक्त निर्णयों के सम्बन्ध में निम्न दो दशायें हो सकती हैं :

(a) यदि फर्म अपने अनुकुलतम उत्पादन आकार से कम उत्पादन करना चाहती है तो उसे किसी छोटे संयन्त्र को उसके न्यूनतम लागत स्तर से कम उत्पादन करना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पाद वृद्धि नियम लागू होंगा तथा बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त होंगी।

(b) यदि फर्म अपने अनुकुलतम उत्पादन स्तर से अधिक उत्पादन करना चाहती है तो उसे बडे संयन्त्र के कम प्रयोग के स्थान पर संयन्त्र का अधिक प्रयोग करना चाहिये।

प्रश्न

1. दीर्घकाल में उत्पादन तथा लागत सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।

   Describe relationship of long-term cost and production.

2. दीर्घकालीन लागत विश्लेषण को परिभाशित कीजिये तथा इसका प्रबन्धकीय महत्व बताइये।

Define long-term cost analysis and discuss its importance to management.

3. दीर्घकालीन लागत विश्लेषण को विस्तार से लिखिये।

Write in detail about long-term cost analysis.

4. दीर्घकाल में तथा अल्पकाल में लागत–उत्पादन सम्बन्धों को स्पष्टरूप से समझाइये।

Explain clearly the cost-output relationship in the long-term and the short-run.

खंड 2

इकाई 5 परिवर्तनशील अनुपात का नियम

परिचय-

उत्पादन विश्लेषण प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के समस्त विश्लेषणों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विश्लेषण हैक्योंकि प्रत्येक फर्म आने लाभ को अधिकतम करनेके लिए सीमित साधनों से कम से कम लागत परअधिकतम उत्पादन करना चाहती है, जिससे उसकालाभ अधिकतम थे। परिवर्तनशील अनुपातों कानियम अल्पकाल में स्थिर और परिवर्तनशील साधनोंके बीच तकनीक संबंध को व्यक्त करता है। यहनियमबताता है कि यदि अनय साधनों केा स्थिर रखकर एकपरिवर्तनशील साधन की इकाइयों की संख्या बढ़ा दीजाए, तो उत्पादन किस प्रकार परिवर्तित होता है।उदाहारण के लिए, भूमि प्लांट और उपकरण स्थिर साधनहैं और उत्म परिवर्तनशील साधन है। अधिक उत्पादनकरने के लिए मजदरों की संख्या लगातार बढाईजाती है, तो स्थिर और परिवर्तनशील साधनों मेंअनुपात बदलता जाता है। और ऐसी स्थिति मेंपरिवर्तनशील अनुपात का नियम लागु होता है।प्रो ईसथम के अनुसार ." यदि एक उत्पादन केसाधन की मात्रा को एक अन्य साधन की स्थिर मात्राके सहयोग के साथ निरंतर बढ़ाया जाए मो परिवर्तनशीलसाधन का प्रति इकाई उत्पादन बढता है,अधिकतम पहूँच जाता और फिर गिरता है।"

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की मान्यताएँ :

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की मान्यताएँ निम्नलिखित है:

निम्नलिखित है :

परिवर्तनशील साधन प्रति इकाई प्रयोग किया जाता है। .1

.2प्रत्येक इकाई का आकार और गुणवत्त समान होता है।

.3एक साधन को छोड़कर अन्य सभी साधन आकार एवं

गुणवत्त में अपरिवर्तित रखे जाते है।

.4उत्पादन प्रक्रिया में स्थिर साधन के साथ परिवर्तनशील

साधन की इकाइयों में वृद्धि करके इकटठा लगया जाता है।

.5उत्पादन की तकनीक स्थिर रखी जाती है।

.6यह नियम अल्यकाल में कार्य करता है

.7इसमें कीमतें दी हुई मानी जाती है।

नियम की व्याख्या:

नीचे दिये गये तालिका की सहायता से नियम को स्पष्ट करते है।

यहाँ स्थिर साधन, होता है। दन प्राप्त की इकाइयां लगाई जाती है और उत्पाएकड़ भूमि पर परिवर्तनशील साधन उत्म 5 दन निकाला दन और सीमांत उत्पाउत्पा तभ से औस्त्रदन के स्तंभों में दिखाया गया है। कुल उत्पादनफलन स्तंउत्पा क 2 म्भको स्त्र 3 म्भगया है। स्त्रीी अकाइयोंसे विभक्त करके प्रति श्रमिक औस्तन उत्पादन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए,दनकुल उत्पा 55 ,एक दन उपत्पा होता हे। सीमान्तदन प्राप्तऔसत उत्पा 11 श्रमिकों द्वारा 5 6 दन करते हैं औरइकाईयों का उत्पा 55 श्रमिक 5 दन में होने वाली वृद्धि है।अधिक श्रमिक लगाने से कुल उत्पा इकाइयां है। 5 दनका। इस प्रकार सीमांत उत्पा 60 श्रकिमों

ालिका दन का उत्पाएकड़ भूमि से भौतिक इकाइयों में गन्ने 5 : 1

भूमि एकड़	श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	औसत उत्पादन	सीमांत उत्पादन	अवस्था
5	1	8	8	8	
5	2	20	10	12	I
5	3	36	12	16	
5	4	48	12	12	
5	5	55	11	7	II
5	6	60	10	5	
5	7	60	8.6	0	
5	8	56	7	4-	III

तालिका के विश्लेषण से पता चलता है कि पहले कुल, औसत और सीमान्त उत्पादन बढ़ते हैं, फिर अधिकतम होते हैं और अंत में घटने लगते हैं। कुल उत्पादन तब अधिकतम होता है जब श्रमिकों की इकाइयों का प्रयोग 7अथवा 6 दन चौथी इकाई तक इकाइयों से अधिक श्रमिकों का उपयोग करने पर घट जाता है।औसत उत्पा 7 किया जाता है और दन शउत्पा बढ़ता जाता है जबकि सीमांत्रम की तीसरी इकाई पर अधिकतम है और इसके बाद भी गिरने लगता है। यह महत्वपूर्ण है कि घटते उत्पादन का बिन्दू, कुल औसत और सीमांत उत्पादन के लिए एक नहीं होता है। सीमांत उत्पादन पहले घटने लगता है , औसत उत्पादन उसके बाद और अंत में कुल उत्पादन घटता है। यह स्पष्ट है कि घटते प्रतिफल की प्रवृत्ति अंत में तीनों उत्पादकता सिद्धांतों में पायी जाती है।

चित्र 1-

Figure - page – 168

परिवर्तनशील अनुपात के नियम को चित्र में दर्शाया गया है।

परिवर्तनशील अनुपात के नियम को चित्र में दर्शाया गया है पहले कुल उत्पादन वक्र बढती दर से बिन्दू A के उपर की ओर बढता है जहां उसकी ढलान सबसे अधिक होती है बिन्दू A के पश्चात T P घटती दर से बढता है , जब तक यह उच्चतम बिन्दू C तक नही पहुंच जाता है, और फिर यह गिरना शुरू कर देता है T P वक्र को स्पर्श रेखा जिस बिन्दू A पर स्पर्श करती है उसे मोड बिन्दू)Inflation point) दनकहते हैं। कुल उत्पा (TP दनवक्र के साथ सीमांत उत्पा ( )MP) दनवक्र तथा औसत उत्पा (AP वक्र भी बढते है। जब (TP वक्र की ढलान A बिन्दू पर अधिकतम होती है तो MP वक्र भी अपने अधिकतम बिन्दू D पर पहुंच जाता है और उसके बाद गिरने लगता है AP वक्र पर अधिकतम बिंदू E है जहां MP वक्र से मिलता है तथा यह बिंदू PP वक्र पर बिंदू B से मिलता है जहां से कुल उत्पादन वृद्वि धीमी हो जाती है जब TP वक्र अपने अधिकतम बिंदू C पर पहुंच जाता है बिंदू F पर MP वक्र न्यून हो जाता है तथा जब TP गिरना शुरू करता है तो MP ऋणात्मक हो जाता है और AP बक्र गिरता जाता है पर शुन्य से अधिक रहता है कुल, औसत और सीमांत उत्पादन के बढते, घटते और ऋणात्मक पक्ष वास्तव में परिवर्तनशील नियम की अवस्थाएं है।

नियम की तीन अवस्थाएं

प्रथम अवस्था दन अधिकतम और में अौसत उत्पा है प्रथम अवस्थायह बढते प्रतिफल के नियम की अवस्था - को चित्र में मूलबिंददन के बराबर पहुंच जाता है जब चार श्रामिक लगाए जाते हैं। इस अवस्थासीमांत उत्पा से 0E तक व्यक्त किया गया है, जहां MP और AP वक्र मिलते हैं। इसमें TP वक्र तेजी से बढता हुआ B तक पहुंच जाता है। इस प्रकार अवस्था का संबंध बढते सीमांत और औसत प्रतिफल से है जो E पर बराबर हो जाता है।

दूसरी अवस्था – घटते प्रतिफल के नियम की अवस्थाद है इस अवस्थाह में औसत उत्पादन (AP) अपनी अधिकतम सीमा पर होता है तथा सीमांत उत्पा दन (MP) का बिंदू 0 होता है। इस बिंदू पर कुल उत्पादन उच्चपतम होता है। तालिका में इस अवस्थाह को उस जगह दिखाया गया है जहां भूमि को जोतनेके लिए श्रामिकों की संख्याचार से बढाकर सात कर दी गई है चित्र में यह BEऔर CF के बीच की स्थिति है। यहां भूमि कम और गहनता से प्रयोग की जाती है तथा अधिक उत्पादन के लिए और अधिक श्रमिक लगाए जाते है। इस अवस्थास में कुल उत्पामदन घटती दर से बढता है तथा औसत और सीमांत उत्पाशदन घटता जाता है MP बिंदू F पर शून्यब है तथा AP घटता जाता है और वक्र TP बिंदू Cपर अधिकतम है। केवल यही अवस्थार है जिसमें उत्पासदन लाभदायक है क्यों कि कुल उत्पायदन अधिकतम हो होता है।

तीसरी अवस्था – यह दन इ है। उत्पाक सीमां त प्रतिफल की अवस्थाऋणात्म.स अवस्था में नही हो सकता क्योंकि कुल उत्पादन घटने लगता है और सीमांत उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है। आठवां श्रमिक लगाने पर कुल उत्पादन 60 4- दनइकाई हो जाता है और सीमांत उत्पा 56 इकाई से घटकरइकाई हो जाता है चित्र में यह अवस्था बिंदूकित रेखा CF से शुरू होता है जहां MP वक्र X बहुत अधिक है अक्ष के नीचे है। यहां भूमि के अनुपात में श्रामिकों की संख्या- के कारण खेती करना असंभव हो जाता है।जिस

कौन सी अवस्थाएं श्रेष्ठ है ?

प्रथम अवस्था में जब बिंदू E के बायी ओर उत्पादन होता है, तो परिवर्तनशील साधनों के अनुपात में स्थिर साधन अधिक मात्रा में है जिनका अधिकतम प्रयोग नही हो रहा है। तीसरी अवस्था में बिंदू F के दायी ओर परिवर्तनशील साधन का अधिकता से प्रयोग किया जा रहा है, इसलिए कोई भी उत्पादक इसमें उत्पादन नही करेगा क्योंकि सीमां त उत्पादन ऋणात्मक होता है इसलिए पहली तथा तीसरी अवस्थाएं आर्थिक मूर्खता की है। अतदन हमेशा दूसरी उत्पा : अधिकतम होता है तथा :र्म का कुल उतपादन घटती दर से बढता है। और अंतत में होगा जिसमें फाअवस्था MP एवं AP अधिकतम होने के बाद कम होते जाते है। इसलिए उत्पादन के लिए दूसरी अवस्था ही श्रेष्ठ अवस्था है।

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के लागू होने के कारण म लागू होने के कारण परिवर्तनशीन अनुपातों के निय -: लिखित हैनिम्न

में परिवर्तनशील साधन की अपेक्षा स्थिर की साधन की अधिक मात्रा बढते प्रारम्भ : बढते प्रतिंफल की अवस्था (१) हुए प्रतिफलका मुख्य कारण है। जब स्थिर साधन पर परिवर्तनशील साधन की अधिक इकाइयों को लगाया जाता है तो स्थिर साधन का अधिक अधिक प्रयोग होता है जिससे उत्पादन तेजी से बढता है श्रम विभाजन और विशेषीकरण के कारण उत्पादन में प्रति इकाई वृद्धि होती है। इसका एक कारण यह भी है कि स्थिर साधन एक निश्चित आकार का होता है, जिससे परिवर्तनशील साधन जैसे श्रामिक की इकाइंया बढाने से स्थिर साधन भूमि का अधिकतम उपयोग होता है जब स्थिर साधन पर परिवर्तनशील साधन की अधिक इकाइंया लगाई जाती है, तो उत्पादन अनुपात से अधिक बढता है जिससे बढते प्रतिफल का नियम लागू होता है।

की तुलना में एक साधन की साधनोंघटते प्रतिफल के नियम का मूल कारण अन्य -: घटते प्रतिफल की अवस्था (2) कमी है। स्थिर साधन की अपेक्षा परिवर्तनशील साधन का अनुपात बढ जाने से साधनों का संयोग बिगड जाता है दन की हानियां होती हैजिससे उत्पालागत बढती है और कुल उत्पादन में वृद्धि घटती दर से होती है तथा औसत उत्पादन में कमी सीमांत उत्पादन से कम होती है।

क सीमांत प्रतिफल का मूल कारण स्थिर साधन का अधिकतम प्रयोग होता ऋणात्म -: क सीमांत प्रतिफलऋणात्म (3) है परिवर्तनशील साधनों के अनुपात में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण सीमांत उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है और कुल उत्पादन घटने लगता है।

नही होते है नापन्नओं में मौलिक बात यह है कि कोई दो साधन पूर्ण स्थाइन तीनों अवस्था -: तानापन्न स्थाअपूर्ण (4) साधन दुलर्भ होते है, क्योंकि इन्हे एक दूसरे स्थान पर स्थानापन्न नही किया जा सकता। श्रीमती राबिन्सन के अनुसार ,"उत्पादन के एक साधन को अन्य के स्थान पर स्थानापन्न करने की एक निश्चित सीमा है। दूसरे शब्दों में, साधनो में स्थानापन्न की लोच अन्यत्र नही है" अत नहीनापन्नचूंकि दो साधन पूर्णस्था : होते, इसलिए परिवर्तनशील अनुपातों का नियम लागू होता है।

पैमाने के प्रतिफल का नियम न के दीर्घकालीन प्रवृत्ति को सूचित करता है दीर्घ काल में कोई भी दन फलयह उत्पा -: आवश्दन के साधन परिवर्तनशील होते हैं तथा उन्हेंदन का साधन सिथर नही रहता। सभी उत्पाउत्पायकता के अनुसार परिवर्तित भी किया जा सकता है। सभी उत्पादन साधन के परिवर्तनशील होने के कारण उत्पादन का पैमाना परिवर्तित िकया जा सकता है। प्रो रोजर मिलर के अनुसार." पैमाने के प्रतिफल, उत्पादन में परिवर्तनों और उत्पादन के सभी साधनों के बीच अनुपातिक परिवर्तन है"! चूंकि दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होतें है, इसलिए फर्म उत्पादन के सभी साधनों को समान अनुपात में बढाकर अपने उत्पादन का पैमाना बढा सकती है।

पैमाने के प्रतिफल की मान्यताएं : ताओं पर आधारित हैलिखित मान्यपैमाने के प्रतिफल का नियम निम्न - :

उद्यम स्थिर है।सभी साधन परिवर्तनशील है। परन्तु (1)

म करता है ।एक श्रमिक दिये गए औजारों और उपकरणों से का (2)

की परिवर्तन नही होते हैं ।तकनी (3)

पूर्ण प्रतियोगिता है । (4)

ओं को मात्रा में मापा जाता हैवस्तु (5), मुद्रा में नही।

नियम की व्याख्या :

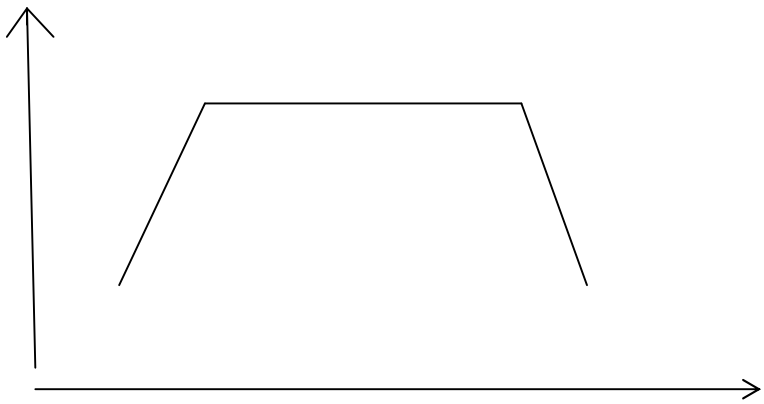

चित्र 2 -

जब सभी साधन अपरिवर्तित अनुपात में बढाए जाते है और उत्पादन के पैमाने का विस्तार किया जाता है तो उत्पादन पर प्रभावक्रमश :ओं में होता हैतीन अवस्था :

पैमाने के बढते प्रतिफल (1)

पैमाने के स्थिर प्रतिफल और (2)

पैमाने के घटते प्रतिफल (3)

इन तीनों अवस्थाओं को तालिका की सहायता से समझाया गया है। 2 और चित्र 2

तालिका 2 :भौतिक इकाइयों में पैमाने का प्रतिफल

1

2

इकाई	उत्पादन का पैमाना	कुल प्रतिफल	सीमांत प्रतिफल
1.	एकड भूमि 1 श्रमिक 1	8	बढता 8
2.	एकड भूमि 2 श्रमिक 2	17	प्रतिफल 9
3.	एकड भूमि 3 श्रमिक 3	27	10
4.	एकड भूमि 4 श्रमिक 4	38	11 स्थिर
5.	एकड भूमि 5 श्रमिक 5	49	11 प्रतिफल
6.	एकड भूमि 6 श्रमिक 6	59	10
7.	एकड भूमि 7 श्रमिक 7	68	9 घटता
8.	एकड भूमि 8 श्रमिक 8	76	8 प्रतिफल

पैमाने के बढते प्रतिफल दन में पात में बढाए जाते है तो कुल उत्पा में यदि सभी साधन एक निश्चित अनुइस अवस्था : एकड भूमि है तेा 1 श्रमिक 1 दन कावृद्धि अनुपात से अधिक होती है तालिका के अनुसार प्रारंभ में जब उत्पा उत्पादन दन का पैमाना दुगना कर दिया गयादन बढाने के लिए जब उत्पाहै उत्पा 8, तो कुल प्रतिफल दुगुने से अधिक हो 17 हो जाता है यह 27 ता है। इसी प्रकार यदि पैमाना तीन गुना कर दिया जाता है तो प्रतिफल तिगुने से अधिक अर्थातजा पैमाने के बढते प्रतिफल को प्रकट करता है चित्र२ में RS पैमाने के प्रतिफल का वक्र है जहां R से C तक वक्रका भाग बढते प्रतिफल को व्यक्त करता है।

पैमाने के स्थिर प्रतिफल ल समान दन में वृद्धि बिल्कुजब साधनों को एक निश्चित अनुपात में बढाने से कुल उत्पा : दन के पैमाने को और बढाने पर कुल प्रतिफल इस तरह अनुपात में होता है तो पैमाने का स्थिर प्रतिफल होता है। उत्पा दन के सीमांत प्रतिफलसे बढता है कि उत्पा स्थिरहो जाता है। तालिका उत्पादन केपैमाने की चौथी और पांचवी इकाई का सीमांत प्रतिफल II है। जब उत्पादन का पैमाना एकड भूमि किया 5 श्रमिक 5 एकड भूमि से बढाकर 4 श्रमिक 4 जाता है तो यह पैमाने का स्थिर प्रतिफल है चित्र मेंC से D तक RS वक्रका भाग जो X – अक्ष के समांनांतर है पैमाने के स्थिर प्रतिफल को व्यक्त करता है।

पैमाने के घटते प्रतिफल दन में वृद्धि अनुपात से में साधनों को निश्चित अनुपात में बढाने से कुल उत्पाइस अवस्था - : दन का ालिका में जब उत्पाकम होता है तो इसे पैमाने के घटते प्रतिफल कहते हैं। तपैमाना छठीं, सातवी, और आठवी, इकाइयों द्वारा और बढाया जाता है तो सीमांत प्रतिफल क्रमश10 घटकर :,9, और हो जाता है 8, जो पैमाने के घटते प्रतिफल व्यक्त करते है। चित्र में,RS वक्र का D से नीचे की ओर S तक का भाग घटते प्रतिफल को दर्शाता है।

पैमाने के प्रतिफल का नियम लागू होने के कारण -:

विभिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत पैमाने के प्रतिफल का नियम लागू होने के कारण निम्नलिखित है :

ता के कारण पैमाने का प्रतिफल बढता है। जब तक दन के साधनों की अविभाज्यउत्पा : पैमाने के बढते प्रतिफल (1) र होता हैफर्म का विस्ता, तो अविभाज्य साधनों को अनकी अधिकतम क्षमता पर लगाया जाता है। जब फर्म का विस्तार होता है तो वह पहले से अच्छी मशीनें लगा सकती है, अधिक आसानी से वस्तुएं बेच सकती है, सस्ती दर पर मुद्रा उधार ले सकती है, अधिक कुशल प्रबंधक और श्रमिकों की सेवाएं प्राप्त कर सकती है।

में पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैंइस अवस्था : पैमाने के लिए स्थिर प्रतिफल (2), जब आंतरिक हानि और किफायतें निष्प्रभावित हो जाती है और उत्पादन उसी अनुपात में बढता है बाहरी किफायतों और हानियों का संतुलन होना इसका

दूसरा कारण है। जब उत्पादन के साधन पूर्णतया विभाज्य स्थानापन्न और समरूप हों तथा दी हुई कीमतों पर उनकी पूर्तियां पूर्णतया लोचदार हों तो पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं।

पार का दक बन जाते हैं। व्या साधन अकुशल और कम उत्पा में अविभाज्यइस अवस्था : पैमाने के घटते प्रतिफल (3) र हो जविस्ताृाता है जिससे तालर होने से एं खडी हो जाती है । प्रबंधन का विस्तामेल और देखभाल की समस्या- हो जाती है इन हानियों के साथ पैमाने की बाहरी न्ननियंत्रणऔर कठोरताओं की कठिनाइयों की कठिनाइयां उत्प र जारी रहता है तो प्रशिक्हानियां मिल जाती है। जब उद्योग का विस्ताषित श्रम, भूमि, पूंजी, आदि की मांग बढ जाती है पूर्ण प्रतियोंगिता के कारण मजदूरी, लगान, और ब्याज की दरें बढ जाती हैं। इन सब कारणों से लागतें बढने लगती है और फर्मों के विस्तार से पैमाने के प्रतिफल घटने लगते हैं, जिसके कारण पैमाने को दोगुना कर देने से उत्पादन दोगुना नही होता है बल्कि घटता है।

लागत अवधारणा

(Cost Concepts)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में लागत अवधारणाओं का विशेष स्थान है,क्योंकि प्रत्येक प्रबन्धकीय निर्णय लागत के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही लिया जाता है। लागत अवधारणा द्वारा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री उत्पाद का लाभप्रद मूल्य निर्धारित कर सकता है तथा लाभ की सही मात्रा ज्ञात कर सकता है। फर्म द्वारा लागत विश्लेषण के अभाव में आन्तरिक नियन्त्रण व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती है तथा सरकारी आदेशों के पालन में भी त्रुटि हो सकती है। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रत्येक निर्णय में लागत तथा आय की तुलना करते हैं तथा यदि लागत की तुलना में आय होती है तो वह व्यव विवेकपूर्ण माना जाता है। आजकल व्यवसायी न केवल अपनी लागत की आय से तुलना करता है,बल्कि भूतकालीन लागत से प्रतिद्वन्द्वी की लागत से,उद्योग की लागत से तथा भावी सम्भावित लागत से तुलना करके ही सही निर्णय ले पाता है। आजकल एक ही फर्म द्वारा संयुक्त रूप से अनेक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है,अतः प्रत्येक वस्तु का पृथक् से मूल्य निर्धारित करने के लिए उन वस्तुओं की पृथक्–पृथक् लागत ज्ञात करना आवश्यक होता है।

सामान्यतः व्यावसायिक निर्णय उत्पादों तथा साधनों के मौद्रिक मूल्यों के आधार पर लिये जाते हैं। मौद्रिक रूप में व्यक्त उत्पादन लागत ही एक महत्वपूर्ण कारक है जिसके आधार पर आधिकांश व्यावसायिक निर्णय लिये जाते हैं। ऐसा निम्न कारणों से होता है–

(1) उत्पादन प्रबन्धन के दुर्बल बिन्दुओं का पता लगाना,

(2) लागत को न्यूनतम करना,

(3) उत्पादन के अनुकूलतम स्तर का पता लगाना।

(4) व्यावसायिक संचालन की लागत का अनुमान लगाना।

एक आधुनिक उद्योग के संचालन में इतने विभिन्न प्रकार के निर्णय लेने होते हैं कि विभिन्न व्यवसायकि योजनाओं की तुलना के लिए लागत सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं के ज्ञान की आवश्यकता होती है। सर्वाधिक सार्थक लागत का चुनाव करने के लिए लागत अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

(1) वास्तविक लागत (Real Cost)- वास्तविक लागत का अध्ययन प्रतिश्टित अर्थशास्त्रियों ने किसी वस्तु के उत्पादन में श्रमिकों और पूँजी पतियों द्वारा किये गये त्याग अथवा कष्ट के रूप में किया है। इनका मत है। कि किसी भी उत्पादन में पूँजी पतियों को अपने वर्तमान उपभोग का त्याग करके ही संचय करना पड़ता है तथा श्रमिकों को वस्तु के उत्पादन के लिए कष्टउठाना पड़ता है। इस त्याग अथवा कष्ट की कुल मात्रा ही सम्बन्धित वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत है।

उपर्युक्त वास्तविक लागत अवधारणा को आधुनिक अर्थशास्त्री नहीं मानते हैं। इस विचार को अवास्तविक एवं संदेहात्मक विचार माना जाता है क्योंकि कष्टएवं त्याग व्यक्तिनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियॉ हैं और इनकी माप नहीं की जा सकती है।

(2) अवसर लागत (Opportunity Cost) एवं मौद्रिक या व्यय लागत–मौद्रिक अथवा व्यव लागत एवं अवसर लागत में त्याग के स्वभाव के आधार पर हम लागत में अन्तर कर सकते है। मौद्रिक लागतें वे हैं जो उत्पादन कार्य पर व्यय की जाती हैं। इसमें सभी प्रकार के व्यय सम्मिलित होते हैं। यह सुनिश्चित या व्यक्त लागत (Explicit Cost) हो सकती है एवं निहित (Implicit) लागत हो सकती है। व्यक्त लागतों में श्रम, माल,ईंधन,परिवहन,शक्ति,पूँजी आदि का प्रयोग करने के लिए बाहरी तत्वों पर किये गये खर्चों को शामिल किया जाता है। अतः ऐसी लागतें जिनका भुगतान उत्पादन–कर्त्ता वास्तव में दूसरे व्यक्तियों को करता है,व्यक्त लागतें कही जाती हैं। लेखापालों की दृष्टि से व्यक्त लागतों के योग को ही उत्पादन लागत की संज्ञा दी जाती है। परन्तु किसी वस्तु के उत्पादन में बाह्य तत्वों से प्राप्त साधनों पर खर्च करने के साथ कुछ ऐसे साधनों का भी प्रयोग

करना होता है जिन पर स्वयं उत्पादन–कर्ता का स्वामित्व होता है। उत्पादनकर्ता की स्वयं की पूँजी का ब्याज,स्वयं के श्रम या प्रबन्ध का पुरस्कार,स्वयं के भवन या साज–सामान का किराया आदि इसी प्रकार के खर्च हैं। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही प्रकार की लागतों का निर्णय की दृष्टि से समान महत्व है।

अवसर लागत वैकल्पिक उद्यम–जन्य लाभ का रूप ग्रहण करती है। अवसर लागत का लेखा पुस्तकों में उल्लेख नहीं किया जाता है। एक साधन कई उत्पादन क्रियाओं में से जब किसी एक विशेष उत्पादन क्रिया में प्रयोग किया जाता है तों वह दूसरी उत्पादन क्रिया में प्रयुक्त होने का अवसर खो देता है। इस विकल्प की लागत को ही अवसर लागत कहते हैं। अवसर लागत को वैकल्पिक लागत,हस्तान्तरण आय या त्याग किया गया विकल्प आदि नामों से भी जाना जाता है। अवसर लागत को हस्तान्तरण आय अथवा मूल्य के अर्थ में उस साधन को वर्तमान प्रयोग में बनाये रखने के लिए दिया जाने वाला वह न्यूनतम भुगतान है जो यदि उसे नहीं दिया जाय तो वह अन्य श्रेष्ठविकल्प चुन लेगा और वहॉ चला जायेगा।

अवसर लागत की गणना अल्पकालीन निर्णयों की स्थिति में सरल हो सकती है क्योंकि विकल्प स्पष्ट होते हैं। परन्तु अवसर लागत का विस्तृत प्रयोग एवं अर्थ होता हैं यह धारणा दीर्घकालीन निर्णयों में भी सहायक होती है। उदाहरणार्थ एक विद्यार्थी की उच्च शिक्षा की लागत उसकी फीस और पुस्तकों के खर्च तक ही सीमित नहीं होती बल्कि उसकी वह आय भी लागत में सम्मिलित है जो वह उस अवधि में कार्य करके प्राप्त कर सकता था। अवसर लागत विक्रय व्यूह रचता में भी प्रमुख भूमिका निभाती है। इसी प्रकार पूँजी व्यय बजटिंग में भी अवसर लागत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। पूँजी लागत अनुमान की धारणा वैकल्पिक विनियोग अवसर की धारणा का आवश्यक रूप से निर्भर करती है।

अवसर लागत वह लागत धारणा है जिसका प्रयोग उस समय किया जाना चाहिए जब की पूर्ति पूर्णतः सीमित है। पूर्ति की पूर्ण सीमितता तकनीकी कारणों से हो सकती है जैसे एक क्षेत्र में दूरदर्शन चैनेल की सीमित मात्रा सामाजिक कारणों से हो सकती है, जैसे युद्ध के समय राशनिंग व्यक्तिगत कारणों से हो सकती है जैसे नकद की कमी। वास्तव में अवसर लागत की धारणा का व्यवसायी वर्ग एवं प्रबन्धकों को यह संदेश महत्वपूर्ण है कि लागत ज्ञान को अपनी उत्पादक इकाई की क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। जो क्रियायें नहीं की जा रही हैं परन्तु जो भविष्य में

की जा सकती हैं उनकी लागतों का विचार करना बहुत महत्वपूर्ण है। उनका विचार नहीं करना घातक हो सकता है।

(3) विगत एवं भावी लागतें (Past and Future Costs)–अधिकांश महत्वपूर्ण प्रबन्धकीय प्रयोगों में भूतकाल में खर्च की गई वास्तविक लागतों से अधिक आवश्यक लागतों का भावी स्वरूप ही होता है। लागतों के पूर्वानुमान पर ही प्रबन्धकीय निर्णय निर्भर करते हैं क्योंकि ये निर्णय भविष्य की ओर देखतें हैं तथा भावी परिस्थितियों से सम्बन्धित अनुमानों की तुलना से प्रभावित होते हैं।

भुतकालीन लागतें,वे लागतें हैं जो विगत समय में खर्च की गई हों और जिनका सामान्यतया लेखा पुस्तकों में उल्लेख होता है। विगत लागतों की माप करना एक प्रकार से विगत गतिविधियों का रिकार्ड रखना कहा जा सकता है और जहॉ तक प्रबन्धकीय निर्णयों का प्रश्न है,इस प्रकार की लागत की कोई सक्रिय भूमिका नहीं होती । इन लागतों पर दृष्टि डालकर विगत संदर्भ में इसका मूल्यांकन किया जा सकता है और यदि लागतें अधिक प्रतीत होती हैं तो उनके कारणों की छानबीन की जा सकती है परन्तु उन्हें कम नहीं किया जा सकता क्योंकि वे तो पहले ही खर्च की जा चुकी हैं।

भावी लागतें वे लागतें होती हैं जो भविष्य की अवधि में खर्च के रूप में अनुमानित होती हैं। ये लागतें वास्तव में खर्च की हुई नहीं रहतीं और न ही इनका लेखा पुस्तकों में कोई उल्लेख होता है। इनके खर्च होने की एक प्रकार की भविश्यवाणी होती है। पूर्वानुमानित लगातें ही वास्तव में प्रबन्धकीय निर्णयों के लिए आधार होती हैं क्योंकि ये ही वे लागतें हैं जिनकों प्रबन्धकीय निर्णयों द्वारा निर्णयों द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। भावी लागतों की योजना बनाई जा सकती है तथा उनसे बचने की भी योजना बनाई जा सकती है। यदि भावी लागतें अधिक प्रतीत होती हैं तो प्रबन्धकर्ता उन्हें कम करने की योजना बना सकता है। अथवा उनका सामना करने की योजना बना सकता है। लागत नियन्त्रण,भावी आय के अनुमान, नये उत्पादों से सम्बन्धित निर्णय, विस्तार करने की योजना और कीमत निर्धारण कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रबन्धकीय निर्णय,के मुद्दे हैं जहॉ अनुमानित अथवा भावी लागतों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। अतः स्पष्टहै कि प्रबन्धकीय निर्णय मे भावी लागतों की महत्ता अवधारणा सार्वभौम है। यदि भूतकालीन लागतों को प्रबन्धकीय निर्णय का आधार बनाया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि भविष्य की परिस्थितियॉ ठीक भूतकाल की परिस्थितियों जैसे होंगी। परन्तु यह मान्यता सर्वथा अवास्तविक है। भविष्य अनिश्चित तो होता ही है परन्तु

भूतकाल से भिन्न भी होता है। भविष्य अनिश्चित का अर्थ यह नहीं है कि भविष्य के बारे में पूर्वानुमान ही नहीं किया जाय।

(4) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लागतें (Short-Run and Long-Run Costs)– किसी भी फर्म की उत्पादन लागत इस लागत इस बात पर निर्भर करती है कि समय अवधि अल्पकाल है या दीर्घकाल। लागतों का व्यवहार अल्पकाल एवं दीर्घकाल में भिन्न होता है। अर्थशास्त्र में अल्पकाल उस अवधि की ओर संकेत करता है जिसमें फर्म की प्लाण्ट–क्षमता स्थिर रहती है लेकिन उत्पादन में,परिवर्तनशील साधनों के समायोजन में कुछ सीमा तक परिवर्तन करके,परिवर्तन किया जाता है। अतः अल्पकाल लागत वे लागतें हैं जो स्थिर प्लॉण्ट क्षमता के परिवर्तनीय प्रयोग से सम्बधित होती हैं। अल्पकाल लागतें परिवर्तशील साधनों उस समय महत्वपूर्ण होती हैं, जब यह निर्णय करना हो कि निकट भविष्य में,जब नया प्लांट स्थापित करना सम्भव नहीं हो अथवा वर्तमान प्लाण्ट की क्षमता बढ़ाना सम्भव नहीं हो, उत्पादन की मात्रा पढ़ाई जाय अथवा नहीं।

दीर्घकालीन–लागतें वे लागतें हैं जो उस समय उत्पादन के साथ परिवर्तित होती हैं जब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। उत्पादन के प्लाण्ट की क्षमता को बढ़ाया भी जा सकता है अथवा नया प्लाण्ट लगाया जा सकता है क्योंकि दीर्घकाल में सभी साधनों में सभी प्रकार का वांछित समायोजन किया जा सकता है। दीर्घकाल में चूँकि सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं, इसलिए अल्पकाल की तरह लागतों को स्थिर लागत और परिवर्तनशीन लागत में वर्गीकृत करने की आवश्यकता नहीं होती है। दीर्घकालीन लागतों का महत्व प्रबन्धकों के लिए उस समय होता है जब उसे यह निग्रय करना पड़ता है कि फर्म की उत्पादन क्षमता को बदला जाय अथवा नहीं, नयी फर्म स्थापित की जाय अथवा नहीं।

दीर्घकालीन–लागतें वे लागतें हैं जो उस समय उत्पादन के साथ परिवर्तित होती हैं जब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। उत्पादन के प्लाण्ट की क्षमता को बढ़ाया भी जा सकता है अथवा नया प्लाण्ट लगाया जा सकता है क्योंकि दीर्घकाल में सभी साधनों में सभी प्रकार का वाछित समायोजन किया जा सकता है। दीर्घकाल में चूँकि सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं,इसलिए अल्पकाल की तरह लागतों को स्थिर लागत और परिवर्तनशील लागत में वर्गीकृत करने की आवश्यकता की तरह लागतों को स्थिर लागत और परिवर्तनशील लागत में वर्गीकृत करने की आवश्यकता नहीं होती हैं। दीर्घकालीन लागतों का महत्व प्रबन्धकों के लिए उस समय होता है जब

उसे यह निर्णय करना पड़ता है कि फर्म की उत्पादन क्षमता को बदला जाय अथवा नहीं,नयी फर्म स्थापित की जाय अथवा नहीं।

(5) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतें (Fixed and Vafiable Costs)–एक निश्चित उत्पाद स्तर तक जो लागतें उत्पादन–मात्रा से प्रभावित हुए बिना अपरिवर्तित रहती हैं,उन्हें स्थिर लागतें कहा जाता है। कुल स्थिर लागतें उत्पादन मात्रा के साथ परिवर्तित नहीं होती हैं, परन्तु प्रति इकाई स्थिर लागतें उत्पादन–मात्रा की विपरीत दिशा में परिवर्तित होती हैं। इन लागतों का सम्बन्ध फर्म के जीवित रहने से है, इसलिए ये लागतें तो उठानी ही पड़ती हैं चाहे फर्म का उत्पादन शून्य ही क्यों न हो,फर्म की बिल्डिंग का किराया,न्यूनतम ऑफिस कर्मचारियों का वेतन,बीमा का प्रीमियम आदि स्थिर लागतों के उदाहरण हैं, स्थिर लागत को ऊपरी लागत (Overhead Cost) अथवा सहायक लागत (Supplementry Cost) भी कहते हैं।

फर्म की परिवर्तनशील साधनों से सम्बद्ध लागतों को परिवर्तनशील लागत कहा जाता है। ये लगातें फर्म की उत्पादन–मात्रा के साथ परिवर्तित होती हैं। यदि उत्पादन बढ़ता है तो ये लगातें बढ़ती हैं। पूर्णरूपेण परिवर्तनशील लागतें उसी अनुपात में परिवर्तित होती हैं जिस अनुपात में उत्पादन मात्रा परिवर्तित होती है। चूँकि उत्पादन–मात्रा के अनुपात में ही कुल परिवर्तनशील लागतें बदलती हैं इसलिये प्रति इकाई परिवर्तनशील लागतें स्थिर रहती हैं। कुछ परिवर्तनशील लागतें ऐसी भी होती हैं जो उत्पादन मात्रा के अनुपात में परिवर्तित नहीं होती हैं। इन्हें अर्द्ध–परिवर्तनशील लागतें कहा जाता है। परिवर्तनशील लागतें में कच्चे माल की कीमत,श्रम,परिवहन आदि सम्बन्धी व्यय शामिल किये जाते हैं।

(6) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागतें (Direct and indirect Costs)–प्रत्यक्ष लागतें वे हैं जो निर्विवाद रूप से किसी एक उत्पादन अथवा एक विभाग अथवा एक प्रक्रिया से सम्बद्ध होती हैं। ऐसी लागतें को सरलतापूर्वक पहचाना चा सकता है और विभिन्न विभागों अथवा प्रक्रियाओं तथा उत्पादनों से जोड़ा जा सकता है। यदि क्षेत्र के आधार पर लागतों की गणना होती हो तो एक क्षेत्रीय मैनेजर का वेतन प्रत्यक्ष लागत कहा जायेगा।

अप्रत्यक्ष लागतें वे लागतें हैं जो आमतौर पर किसी एक प्रक्रिया अथवा एक विभाग अथवा एक उत्पाद से नहीं जोड़ी जा सकती हैं। ये लागतें सभी विभागों या प्रक्रियाओं या उत्पादों से सम्बधित

होती हैं। इनके उचित बॅटवारे की समस्या सामने आती है जबकि प्रत्यक्ष लागतों के बॅटवारे का प्रश्न ही नहीं उठता। अर्थशास्त्र में अप्रत्यक्ष लागतों को–(1) संयुक्तउत्पदन लागत तथा (2) वैकल्पिक उत्पाद लागत, इन दो वर्गों में विभक्त किया जाता है। दो वस्तुओं को संयुक्त उत्पाद की संज्ञा उस समय दी जाती है जब एक ही उत्पादन मात्रा में परिवर्तन करने पर दूसरे की उत्पादन मात्रा भी आवश्यक रूप से उसी दिशा में परिवर्तित होती है। यदि एक वस्तु की उत्पादन मात्रा में परिवर्तन करने पर दूसरी वस्तू की उत्पादन–मात्रा में विपरीत दिशा में परिवर्तन होता है तो उन्हें वैकल्पिक उत्पाद कहा जायेगा।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागतों में अन्तर करना इसीलिए उपयोगी है क्योंकि अनेक बार महत्वपूर्ण लगातें प्रत्यक्ष न होते हुए भी उत्पादन के साथ परिवर्तित होती हैं और उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों से जटिल रूप से प्रभावित होती हैं। मशीनों को बनाने के लिए विद्युत शक्ति एक अप्रत्यक्ष लागत होते हुए भी एक परिवर्तनशील लागत है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष लगातें कई बार स्थिर और अप्रत्यक्ष लागतों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष लागतें कई बार स्थिर और अप्रत्यक्ष लगातों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि लागतों की प्रत्यक्षता का अंश लागतों के साथ बदलता रहता है। कुछ लागतों की प्रत्यक्षता की पहचान क्षेत्रीय स्तर कर हो सकती है, कुछ की विभागीय स्तर कर पहचान हो सकती है और कुछ की ठीक वस्तु के स्तर तक पहचान हो सकती है। लागत की प्रत्यक्षता की पहचान क्षेत्रीय स्तर तक हो सकती है, कुछ विभागीय स्तर कर पहचान हो सकती है और कुछ की ठीक वस्तु के स्तर तक पहचान हो सकती है। लागत की प्रत्यक्षता प्रबन्ध में उस अवस्था में अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जब अप्रत्यक्ष से सम्बन्धित बहुउत्पादों में पर्याप्त अन्तर हो अथवा उनके विक्रय प्रक्रिया में स्पष्टअन्तर हो और जब बहुउत्पादों में से एक कम करने या कुछ और वस्तुऍ जोड़ने के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए लागतों का महत्व हो।

(7) रोकड़ी एवं पुस्तकीय लागतें(Out of Pocket and book Costs)- रोकड़ी लागतें वे लागतें हैं जिनका फर्म बाहरी लोगों को नकद भुगतान करती है। कच्चे माल का भुगतान,चौकीदार का वेतन,श्रमिकों का वेतन,किराया आदि रोकड़ी लागतों के उदाहरण हैं। पुस्तकीय लागतें वे हैं जिनका फर्म को वर्तमान में नकद भूगतान नहीं करना पड़ता। मशीनों का ह्रास इसी प्रकार की लागत है। इसे केवल पुस्तकों में दिखाया जाता है। रोकड़ी एवं पुस्तकीय लागतों का अन्तर फर्म की नकद स्थिति जानने के लिए तथा अन्य कई प्रकार के निर्णयों के लिए महत्वपूर्ण है। पुस्तकीय लागतों को

रोकड़ी लागत में बदला जा सकता है। यदि सम्पत्ति को बेचकर उसे पुनः लीज पर प्राप्त किया जाय तो लीज का किराया ह्रास का स्थान ग्रहण कर लेगा और पुस्तकीय लागत रोकड़ी लागत बन जायेगी।

(8) वृद्धिमान एवं डूबी हुई लागतें(Increment & Sink Costs)- किसी क्रिया के स्वरूप अथवा स्तर में परिवर्तन करने पर लागतों में जो वृद्धि हो जाती है उसे वृद्धिमान लागत कहा जाता है। ये लागतें किसी भी परिवर्तन के सन्दर्भ में होती हैं–नया उत्पादन जोड़ा जाय,वितरण व्यवस्था में परिवर्तन किया जाय या नयी मशीन पढ़ाई जाय। इस प्रकार वृद्धिमान लागत का एक प्रश्न एक मौजूदा फर्म के सन्दर्भ में ही पैदा होता है। नये सिरे से स्थापित की जाने वाली फर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की लागत का प्रश्न पैदा नहीं होता है। डुबी हुई लागत वह है जो व्यावसायिक क्रिया के स्वरूप अथवा स्तर के परिवर्तित होने से परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती है। क्रिया का स्तर कुछ भी हो ये लागतें ज्यों–की–त्यों रहती है। प्रबन्धकीय निर्णयों के लिए वृद्धिमान लागतों का ही महत्व है। डूबी हुई लागत और वृद्धिमान लागत का अन्तर परिस्थिति एव ंतथ्य के आधार पर किया जाता है। एक परिस्थिति में एक लागत मद डुबी हुई लागत कही जा सकती है, परन्तु वही लागत मद दूसरी परिस्थिति में वृद्धिमान लागत कही जा सकती है।

(9) बचने योग्य एवं न बचने योग्य लागतें(Escapable and Unavoidable Costs)- बचने योग्य लागत वे लागतें हैं जो व्यावसायिक इकाईयों की गतिविधियों में कमी लाकर कम की जा सकती है। मूलतः बचने योग्य एवं न बचने योग्य लागतों का अन्तर वृद्धिमान एवं डूबी हुई लागतों के अन्तर के समान है। वृद्धिमान लागत जहॉ व्यावसायिक क्रिया में वृद्धि करने पर खर्च करनी पड़ती है वहॉ बचने योग्य लागत क्रिया को कम करके, कम की जाती है। स्मरण रहे कि बचने योग्य लागत का सम्बन्ध लागत पर पड़ने वाले शुद्ध प्रभाव से है केवल सीधे रूप में कार्य संकुचन से जो लागत कम होती है उसी से नहीं। इसलिए प्रमुख समस्या यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से लागत पर पड़ने वाले प्रभावों का सही अनुमान कैसे लगाया जाय। जैसे यदि एक लाभ न देने वाली गोदाम–शाखा को बन्द करने से जितनी लागत की बचत हुई वह लागत पर पड़ने वाला शुद्ध प्रभाव नहीं है। शुद्ध प्रभाव जानने के लिए अन्य शाखाओं पर अधिक भार पड़ने की लागत का अनुमान आवश्यक है,तभी उचित निर्णय लिया जा सकता है। वे लागतें जिनसे बचना सम्भव नहीं है, उन्हें न बचने योग्य लागतें कहा जाता है।

(10) नियन्त्रणीय एवं अनियन्त्रणीय लागतें(Controllable and Uncontrollable Costs)- शब्दों से ही इन लागतों का अन्तर स्पष्ट है,परन्तु एक लागत की नियन्त्रणता प्रबन्ध के स्तर पर निर्भर करती है। कुछ लागतों पर नीचे के स्तर पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता क्योंकि उनसे सम्बन्धित निर्णय उच्च स्तर के प्रबन्धकों के हाथ में होते हैं। इस दृष्टि से सभी लागतें नियन्त्रणीय हैं क्योंकि प्रत्येक खर्च किसी न किसी स्तर में प्रबन्धक की जिम्मेदारी होती है। परन्तु सभी लागतें समान रूप से कम नहीं की जा सकतीं। नियन्त्रणीय एवं अनियन्त्रणीय लागतों का अन्तर खर्च एवं कार्यकुशलता की दृष्टि से उपयोगी है। प्रत्यक्ष माल एवं श्रम लागतें सामान्यतया नियन्त्रणीय होती हैं। ऊपरी–लागत (Overheads) में से कुछ नियन्त्रणीय हैं कुछ नहीं।

(11) अत्यावश्यक एवं स्थगन योग्य लागतें (Uregent and Postponable Costs)-वे लागतें जिनको स्थगित नहीं किया जा सके और जो उत्पादन क्रिया को चालू रखने के लिए अति आवश्यक होती हैं उन्हें अत्यावश्यक लागतें कहा जाता है। श्रम,कच्चा माल, ईंधन आदि इसी प्रकार की लागतें हैं। वे लागतें जिन्हें कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सके उन्हें स्थगत योंग्य लागतें कहा जाता है। भवन की सफाई एवं मरम्मत, मशीन की सफाई आदि इसी प्रकार की लागते हैं। इस प्रकार के अन्तर का प्रयोग रेल विभाग द्वारा किया जाता है।

(12) प्रतिस्थापन एवं ऐतिहासिक लागतें (Replacement and Historial Costs)-ऐतिहासिक लागत का अर्थ है वह कीमत जो किसी सम्पत्ति या प्लान्ट को खरीदते समय दी गई थी। प्रतिस्थापन लागत वह कीमत है जिसका भुगतान वर्तमान में उसी सम्पत्ति या प्लाण्ट को खरीदने के लिए करना पड़ेगा। परस्परागत वित्तीय लेखा विधियों में ऐतिहासिक लागतों का प्रयोग किया जाता है परन्तु कीमत स्तरों में पर्याप्त परिवर्तन होने वाले समय में ऐतिहासिक लागतों के आधार पर भावी लागत अनुमान एवं निर्णय लेना उपयुक्त नहीं है। प्रतिस्थापन लागतों का प्रयोग करते समय उन्हें वर्तमान एवं भावी कीमत स्तरों के अनुसार समायोजित किया जाना आवश्यक होता है।

(13) कुल लगात,औसत लागत एवं सीमान्त (Total Cost,Average Costs)– कुल लागत स्वतः स्पष्ट है। किसी वस्तु के उत्पादन में फर्म की कुल स्थिर लागत और कुल परिवर्तनशील लागतों का योग ही कुल लागत कही जाती है। उत्पादन जब शून्य होता है तो कुल लागत और कुल स्थिर

लागत बराबर हेाती है। उसके बाद कुल लागत उसी अनुपात में बढ़ती है जिसमें परिवर्तनशील लागत बढ़ती है। कुल लागत फलन को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$C = A+F(Q)$$

इस सूत्र में C= कुल लागत, A= स्थिर लागत, F(Q)= परिवर्तनशील लागत का प्रतीक है। उत्पादक कुल लागत के साथ–साथ औसत लागतों में भी रूचि रखते है। औसत लागतें इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे उत्पाद–कीमतों से तुलना करने में अधिक उपयुक्त होती हैं। उत्पाद–कीमतें प्रति इकाइ व्यक्त की जाती हैं इसलिए कुल लागत से तुलना नहीं की जा सकती है। औसत लागतें तीन वर्गों में विभक्त की जाती हैं– (1)औसत स्थिर लगात (2)औसत परिवर्तनशील लागत,और (3)औसत कुल लागत।

औसत स्थिर लागत ज्ञात करने के लिए कुल स्थिर लागत में कुल उत्पादित इकाइयों का भाग दे दिया जाता है। इसे सूत्र रू‍प में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है–

$$AFC \quad \frac{TFC}{Q}$$

यहॉ AFX= औसत स्थिर लागत, FTC = कुल स्थिर लागत तथा Q = उत्पादित इकाइयों की मात्रा है। कुल स्थिर लागत उत्पादन मात्रा से प्रभावित नहीं होती परन्तु औसत स्थिर लागत मात्रा बढ़ने के साथ कम होती जाती है।

औसत परिवर्तनशील लागत प्राप्त करने के लिए कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादित इकाइयों का भाग दिया जाता है सूत्र रूप में यहॉ $AVC = \frac{TVC}{Q}$ पविर्तनशील लागत, TVC = कुल परिवर्तनशील लागत और Q = उत्पादित इकाइयों की संख्या है। औसत परिवर्तनशील लागत उत्पादन बढ़ने पर प्रारम्भ में कम होती है। (क्योंकि उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है), कम होते–होते न्युनतम बिन्दु पर पहुॅचती है (यहॉ परिवर्तनशील साधनों का अनुपात अनुकुलतम हेाता है); इसके बाद बढ़ने व लगती है (क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम प्रारम्भ हो जाता है)। इस प्रकार औसत परिवर्तनशील लागत वक्र का आकार अंग्रेजी–अक्षर U के आकार जैसा होता है।

औसत कुल लागत मालूम करने के लिए कुल लागत में कुल उत्पादित इकाइयों का भाग देना पड़ता है। यदि प्रत्येक उत्पादन–स्तर पर सम्बन्धित औसत स्थिर लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत को जोड़ दिया जाय तो भी औसत कुल लागत ज्ञात हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी उत्पादन बिन्दु पर औसत कुल लागत और औसत परिवर्तनशील लागत का अन्तर ही उस बिन्दु की औसत स्थिर लागत है। औसत परिवर्तनशील लागत की तरह औसत कुल लागत वक्र का आकार भी अंग्रेजी अक्षर U के आकार जैसा ही होता है।

सूत्र–रूप में औसत कुल लागत इस प्रकार व्यक्त की जाती हैः–

सीमान्त लागत की धारणा का अर्थशास्त्र में बहुत महत्व है। उत्पादन की एक इकाई अधिक उत्पादन करने पर जो अतिरिक्त लागत होती है उसे सीमान्त लागत कहते हैं। सीमान्त लागत मालूम करने की विधि भी सरल है। किसी वस्तु की एक इकाई अधिक उत्पादन करने पर कुल लागत में जितनी वृद्धि होती है वही सीमान्त लागत होती है। मान लीजिए किसी वस्तु की 1 इकाई उत्पादन करने पर कुल लागत 100 रू. है,यदि वस्तु की 2 इकाइयॅा उत्पादित की जायें और कुल लागत 180 रू. हो जाये तो सीमान्त लागत 80 रू. होती। सूत्र–रूप में सीमान्त लागत इस प्रकार व्यक्त की जाती हैः

लागत एवं उत्पादन हैं।

सीमान्त लागत की धारणा का कारण यह है कि यह उन लागतों की और संकेत करती है जिन पर फर्म का अत्यधिक नियन्त्रण होता है। सीमान्त लागत दो लागतों की ओर संकेत करती है– (1)वह लागत जो एक इकाई उत्पादन बढ़ाने में खर्च करनी होती है तथा (2)वह लागत जो एक इकाई उत्पादन कम करके बचाई जा सकती है। औसत लागतों से इन लागतों का पता नहीं चलता है। सीमान्त लागत यह व्यक्त करती है कि एक इकाई उत्पादन बढ़ाकर अथवा एक इकाई उत्पादन कम करके कुल लागत में क्या परिवर्तन होता है। इस प्रकार उत्पादन मात्रा सम्बन्धी निर्णय एक सीमान्त निर्णय होता है। सीमान्त लागत की जब सीमान्त आय से तुलना की जाती है तब यह निर्णय किया जा सकता है कि फर्म को उत्पादन–स्तर बढ़ाना लाभप्रद है। सीमान्त लागत की प्रवृत्ति पहले तेजी से कम होती है, फिर वह न्यूनतम बिन्दु पर पहुॅचती है और फिर बढ़ती है। इससे यह प्रकट होता है कि परिवर्तनशील लागत और कुल लागत पहले घटती दर पर बढ़ती हैं और फिर बढ़ती हुई दर पर बढ़ती हैं। सीमान्त लागत वक्र का आकार उत्पत्ति के नियम का परिणाम है। जब

सीमान्त लागत रेखा प्रारम्भ में गिरती हुई होती है तो वह उत्पत्ति वृद्धि नियम की स्थिति को व्यक्त करती है और जब बाद में ऊपर उठती है तो वह उत्पत्ति ह्रास नियम की स्थिति को व्यक्त करती है।

(14) लेखा लागतें एवं आर्थिक लागतें (Accounting and Economies Costs)-संस्था के लाभ–हानि खाते से जिन लागतों का पता चलता है उसे लेखा लागत कहते हैं। लेखा लागतें लेखाशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार होती हैं तथा इनका सम्बन्ध भूतकाल से होता है। आर्थिक लागतें वे होती हैं जो अर्थशास्त्री के लिए उपयोगी होती हैं चाहे वे वास्तव में हुई हों या नहीं। जैसे स्वयं की पूँजी पर ब्याज आर्थिक लागत है लेकिन लेखा लागत नहीं है,इसी तरह से स्वामी का वेतन आर्थिक लागत है लेकिन लेखा लागत नहीं है। संक्षेप में निर्णय में प्रयोग सम्भव नहीं है।

(15) सामूहिक उत्पादन लागतें (Common Production Costs)-कई निर्माणी संस्थाओं में एक ही कच्चे माल तथा एक ही उत्पादन प्रक्रिया से दो या दो से अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। इन उत्पादनों को सामूहिक प्रक्रिया की समाप्ति के पश्चात् ही पहचाना जा सकता है। इस सामूहिक प्रक्रिया की समाप्ति तक जो उत्पादन लागत आती है उसे ही सामूहिक उत्पादन लागत कहते हैं। इन लागतों को किसी तर्कसंगत विधि द्वारा अलग–अलग वस्तुओं पर विभाजित किया जाता है।

(16) तालाबन्दी लागतें तथा परित्याग लागतें (Shutdown Costs and Abandonment Costs)–ऐसी लागतें जो अस्थायी तौर पर उत्पादन बन्द कर देने पर ही होती है और उत्पादन चालू रहने पर नहीं होती हैं,तालाबन्दीं लागतें कहलाती हैं। ऐसी लागतें जो किसी स्थायी सम्पत्ति को पूरी तौर पर हटाने पर व्यय की जाती हैं, परित्याग लागतें कहलाती है।

(17) रोकड़ी लागत एवं पुस्तकीय लागत (Out of Pocket Cost and Book Costs)–ऐसी लागतें जिनका वर्तमान में नकद भुगतान करना पड़ता है, रोकड़ी लागत कहलाती हैं। पुस्तकीय लागत वे होती हैं जिनका केवल लेखों में ही दिखाया जाना पर्याप्त हैं, वास्तव में नकद भुगतान की आवश्यकता नहीं होती जैसे ह्रास।

(18) सामाजिक लागत (Social Costs)-सामाजिक लागत का अभिप्राय उन सब कश्टों प्रयासों व त्याग की मात्रा से है जो समाज को किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के फलस्वरूप उठानें पड़तें हैं।

ऐसी लागतों के उदाहरण हैं धुआँ फैलने से जनस्वास्थ्य पर पड़ने वाला बुरा प्रभाव, गन्दगी फैलने से स्वास्थ्य पर पड़ने वाला बुरा असर आदि।

लागत अवधारणा का प्रबन्धकीय निर्णयों में उपयोग

(Uses of Cost Concepts in Managerial Decisions)

आधुनिक युग में लागत अवधारणा का प्रबन्धकीय निर्णय में बहुत अधिक महत्व है। प्रबन्धकीय निर्णय में लागत अवधारणा निम्न प्रकार उपयोगी सिद्ध होती है–

(1)फर्म की आय का सही आंकलन करने के लिए–विक्रय तथा लागत का अन्तर ही लाभ अथवा हानि होता है; अतः सही लागत आंकलन फर्म की आय ज्ञात करने के लिए बहुत जरूरी है। कुल लागत तथा कुल आय का अन्तर जितना अधिक होगा लाभ की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। जिन संस्थाओं की लागत अधिक होती है तथा आय अन्य संस्थाओं जितनी ही होती है,उन संस्थाओं का लाभ कम होता है। अतः संस्था के कर भुगतान,लाभांश वितरण तथा बोनस से सम्बन्धित निर्णय लागत अवधारणा की सहायता से ही सम्भव है। इसी तरह से पूँजी गत व्यय **(Capital Expenditure)** से सम्बन्धित व्ययों का विश्लेषण करके यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस खर्चे के कितने भाग को लाभ–हानि खाते से चार्ज किया जाये। संस्था के प्रबन्धक लाभ की राशि को कम करने के लिए ह्रास की अधिक राशि चार्ज कर सकते हैं अथवा लाभ की राशि को बढ़ाने के लिए ह्रास की राशि कम चार्ज की जा सकती है। अतः ह्रास की कितनी राशि वास्तव में लाभा–हानि खाते से चार्ज की जाये इसके लिए लागतों का सही विश्लेषण एवं निर्धारण आवश्यक है जो केवल लागत अवधारणाओं द्वारा ही सम्भव है।

(2) मूल्य निर्धारण के लिए–व्यावसायिक फर्म के संचालन के लिए तथा उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए फर्म द्वारा निर्मित की जाने वाली वस्तुओं अथवा प्रदान की जाने वाली सेवाओं के सम्बन्ध में नीतियॉ बनाना तथा उनके मूल्य निर्धारित करना आधुनिक प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। विद्यमान दशाओं एवं पिरिस्थितियों में किसी वस्तु या सेवा का मूल्य क्या हो यह तय करना कठिन समस्या है। क्योंकि फर्म अपने पास उपलब्ध साधनों से किसी वस्तु का निर्माण अथवा

उत्पादन तो अधिकतम मात्रा में कर सकती है,परन्तु वह उस वस्तु का प्रति इकाई विक्रय मूल्य न तो इतना ऊॅचा रख सकती है कि वस्तु का विक्रय ही नहीं हो सके और न ही उसे इतना नीचा रख सकती है कि उससे उस वस्तु की कुल लागत की पूर्ति ही नहीं हो सके। व्यावहारिक दृष्टि से फर्म के व्यवसाय में बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा उत्पादित अथवा निर्मित वस्तु के विक्रय से इतना आगम अवश्य प्राप्त हो जिससे उस वस्तु की कुल लागत के साथ–साथ सामान्य लाभ की भी पूर्ति हो सके। मूल्य कम से कम इतना जरूर होना चाहिए जिससे उस वस्तु की कुल लागत तथा एक निश्चित सामान्य लाभ की भी पूर्ति हो सके। यद्यपि मूल्यों एवं लागतों के मध्य किसी दृढ़ अन्तर्सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, फिर भी मूल्य निर्धारण की प्रत्येक स्थिति में लागत आधार बिन्दु होती है। यही कारण है कि प्रत्येक वस्तु या सेवा के मूल्य निर्धारण के लिए सर्वप्रथम उचित ढंग से उसकी लागत ज्ञात करने पर विशेष बल दिया जाता है, क्योंकि वस्तु की लागत वस्तु के मूल्य तथा मूल्य–निर्धारण नीति एवं निर्णय एवं इन दोनों को ही प्रभावित करते हैं। दीर्घकाल में स्थिर लागतें परिवर्तनशील लागतें हो जाती हैं,अतः मूल्यों की प्रवृत्ति 'कुल लागत. सामान्य लाभ' के बराबर होने की रहती है। दीर्घकाल में ही व्यवसाय के विकास के लिये उत्पादों की किस्मों,निर्माण विधियों,संयन्त्र क्षमता तथा विपणन एवं वितरण के तरीकों में अन्तर अथवा परिवर्तन किया जाता है। अपने व्यवसाय का विकास करने पर कोई फर्म अपने क्षेत्र में अपना उत्पादन कार्य उस समय तक ही जारी रख सकती है जब तक कि उसके उत्पादों के निर्धारित मूल्य से कुल लागत और विनियोजित पूँजी पर उचित प्रत्याय की पूर्ति होती रहती है। दुसरे शब्दों में, दीर्घकाल में व्यवसाय को जारी रखने के लिए मूल्य का कुल लागत + सामान्य लाभ के बराबर और उसके विकास के लिए मूल्य का 'कुल लागत + अधिलाभ' के बराबर होना आवश्यक है। इसके लिए औसत उत्पादन लागत को मूल्य निर्धारण का आधार माना जाता है।

अल्पकाल में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि निर्धारित विक्रय मूल्य से कम से कम कुल लागत का इतना भाग तो प्राप्त हो जाय जिससे परिवर्तनशील लागतों की पूर्ति हो सके। साथ ही व्यवसाय को बनाये रखने के लिए यह भी अपेक्ष की जाती है कि उत्पादों के निर्धारित मूल्यों से विक्रय–मात्राओं,विक्रय मिश्रण,तथा मूल्यों में होने वाले उतार–चढ़ावों के कारण संसाधनों की आवश्यकता में जो तत्कालीन परिवर्तन करने पड़ते हैं, उनकी भी पूर्ति होती रहे।

किसी उत्पादन की सीमान्त लागत अथवा भेदात्मक लागत उसके मूल्य निर्धारण में मार्ग–दर्शक का कार्य करती है। मूल्य निर्धारण के लिए परिवर्तनशील लागतों का विश्लेषण करना आवश्यक होता है क्योंक परिवर्तनशील लागतों को ही लागत विभेदों (cost Differentials) का प्रमुख स्त्रोत माना जाता है।

(3)सरकारी नियन्त्रण–प्रजातान्त्रिक युग में प्रत्येक सरकार आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण रखती है। सरकार उपभोक्ताओं को उचित मूल्यों पर आवश्यक वस्तुएँ सुलभ कराने तथा उद्योगपतियों को न्यायोचित लाभ अर्जित करने की सुविधा देने के लिए मूल्य नियन्त्रण लागू करती है। लागतों का विश्लेषण ही बताता है कि फर्म की उत्पादन लागत कितनी है तथा कितना लाभ मिल रहा है, अब मूल्य क्या रखा जाय जिससे उपभोक्ताओं को उचित दर पर वस्तु उपलब्ध हो सके तथा उत्पादक को भी उचित लाभ मिलता रहे। उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों के हितों की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है। मूल्य नियन्त्रण वाली वस्तुओं की लागत बढ़ने तथा घटने पर मूल्यों में भी आवश्यक संशोधन किया जा सकता है।

(3) जनोपयोगी सेवाओं का मूल्य निर्धारित करने के लिए–जनोपयोगी सेवाओं का मूल्य,जैसे–रेल का किराया, बस का किराया, बिजली के चार्जेज,तथा वाटर चार्जेज आदि भी लागत के आधार पर ही निर्धारित किये जाते हैं। अतः इन सेवाओं की लागतों का विस्तृत एवं गहन अध्ययन आवश्यक है जिससे सही लागत हो सके।

(5) आन्तरिक नियन्त्रण व्यवस्था लागू करने के लिए–लाभ को अधिकतम करने के लिए तथा लागतों को न्यूनतम रखने के लिए संस्था के यहॉ आन्तरिक नियन्त्रण व्यवस्था बजट नियन्त्रण अथवा प्रमाप लागत नियन्त्रण के माध्यम से अपनाई जाती है। प्रमाप लागत नियन्त्रण में प्रत्येक क्रिया की प्रमाप लागत निर्धारित की जाती है और फिर उन प्रमापित लागतों की वास्तविक लागत से तुलना की जाती है तथा यह देखा जाता है कि अन्तर अनुकुल है अथवा प्रतिकुल। यदि अन्तर अथवा विचरण प्रतिकु है तो उसके कारणों का पता लगाया जाता है तथा उनको दूर करने का प्रयास किया जाता है।

(6) साधनों का अनुकूलतम संयोग तथा उद्योगों का अनुकूलतम आकार ज्ञात करने के लिए–प्रत्येक फर्म कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन द्वारा अपने लाभ को अधिकतम करना चाहती है।

यह तभी सम्भव है जब उत्पादन के विभिन्न साधनों का अनुकूलतम संयोग प्राप्त हो जाय और फर्म का आकार भी अनुकूलतम हो जाय। विभिन्न उत्पादन के साधनों का अनुकूलतम संयोग प्राप्त करने और फर्म का अनुकूलतम आकार प्राप्त करने में लागत विश्लेषण सहायक होता है, क्योंकि फर्म महॅगे साधनों के स्थान पर सस्ते उत्पादन के साधनों का प्रतिस्थापन तब तक करती रहेगी, जब तक कि प्रत्येक उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पत्ति एवं उसकी कीमत का अनुपात दूसरे साधनों की सीमान्त उत्पत्ति एवं उसकी कीमत के अनुमात के बराबर नहीं हो जाये।

(7) वास्तविक लागत,प्रमाप लागत तथा अनुमानित लागत में तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा—लागत विश्लेषण से वास्तविक लागत,प्रमाप लागत तथा अनुमानित लगात की विस्तृत एवं व्यापक जानकारी मिलती है,जिससे पूर्वानुमान लगाकर अनेक प्रबन्धकीय निर्णय लिये जा सकते हैं। प्रबन्धक इन सुचनाओं के आधार पर उन कारणों का पता लगा सकता है जिनके कारण ये लागतें अधिक हैं तथा उन कारणों को दूर करने का तरीका निकाला जाता है जिससे संस्था की वास्तविक लागत न्युनतम हो।

(8) संस्था के लाभप्रद तथा अलाभप्रद कार्यों की जानकारी—प्रत्येक उत्पादन संस्थान की अनेक क्रियायें,प्रक्रियोयें, विभाग आदि होते हैं लागत विश्लेषण से इन क्रियाओं, प्रक्रियाओं तथा विभागों की पृथक्—पृथक् लागत,लाभ तथा विक्रय ज्ञात हो जाता है, जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि कौनसी क्रिया,प्रक्रिया तथा विभाग लाभ पर चल रहे तथा कौन से हानि पर चल रहे हैं जिससे हानियों को दूर किया जाय और यदि यह सम्भव नहीं हो तो उन क्रियाओं, प्रक्रियाओं अथवा विभागों को बन्द किया जाये।

(9) लाभ तथा हानि के कारणों का ज्ञान—लागत विश्लेषण के माध्यम से उन कारणों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है जिनसे संस्था को हानि हो रही है तथा प्रबन्धक उन कारणों को दूर करने का प्रयास कर सकता है।

(10) अपव्यय का ज्ञान—कहॉ अपव्यय है और इसको कैसे रोका जा सकता है? लागत विश्लेषण इस कार्य में सहयोग देता है। लागत विश्लेषण से केवल यही ज्ञात नहीं होता है कि वस्तु के निर्माण की लागत विश्लेषण से केवल यही नहीं होता है कि वस्तु के निर्माण की लागत क्या है?बल्कि उन्हें किस तरह से न्यूनतम किया जा सकता है जिससे अपव्यय को दूर किया जा सके।

(11) भविष्य के लिए योजना निर्माण तथा नीति निर्धारण में सहायक–किसी कार्य को करने अथवा नहीं करने का निर्णय प्रबन्धकों को लेना पड़ता है और निर्णय हेतु पूर्वानुमान आवश्यक है। पूर्वानुमान के लिए ऑकड़ों की आवश्यकता होती है जिनके माध्यम से भावी योजना व नीति तय की जा सकती है। लागत विश्लेषण इस रूप में प्रबन्धक के लिए मार्ग–दर्शक का कार्य करते हैं। इसी आधार पर प्रबन्धक यह तय करता है कि विभिन्न प्रकार के उत्पादन में कौन–सा उत्पादन किया जाये, उत्पादन के लिए कौनसा विकल्प अपनाया जाये, उत्पादन की अधिकतम मात्रा क्या होनी चाहिए, स्वयं उत्पादन करे या बाजार में से क्रय करके विक्रय किया जावे।

(12) टेण्डर मूल्य निर्धारित करने में सहायक–साधारणतया सरकार तथा अन्य विक्रेताओं द्वारा निर्माणी संस्था से टेण्डर मूल्य आमन्त्रित किये जाते हैं। लागत विश्लेषण द्वारा गत अवधि की लागत तथा वर्तमान प्रवृति के माध्यम से टेण्डर मूल्य आसानी से ज्ञात किया जा सकता है।

(13) विक्रय नीति निर्धारित करने में सहायक–विक्रय क्षेत्र के चुनाव में लागत विश्लेषण की पद्धति सहायक होती है अर्थात् जिस बाजार में कम लागत पर अधिक विक्रय किया जा सकता है उस बाजार को चुना जा सकता है।

(14) वित्तीय लेखांकन को समझने में सहायक–लागत विश्लेषण वित्तीय लेखांकन की पूरक मानी जाती है। लागत विश्लेषण में लेखे विश्लेषण ात्मक रूप में होते हैं जिससे वित्तीय लेखों को समझे में पर्याप्त सहायता मिलती है।

(15) लाभ की विस्तृत जानकारी–लागत विश्लेषण से केवल लाभ या हानि ही ज्ञात नहीं होती बल्कि इस बात का भी ज्ञान हो जाता है कि किस विभाग या प्रकिया या वस्तु से कितना लाभ या नुकसान हुआ और इसके क्या कारण हैं?

(16) वित्तीय लेखों की शुद्धता की जॉच–लागत विश्लेषण से वित्तीय लेखों की जॉच की जा सकती है और यदि कोई त्रुटि है तो उसका सुधार किया जा सकता है।

लागत व्यवहार के निर्धारक तत्व

(Determinants of Cost Behaviour)

किसी उत्पादक संस्था में लागतों की प्रवृत्ति कैसी है या कैसी होगी,यह अनेक तत्वों पर निर्भर करता है, जिन्हें लागत व्यवहार के निर्धारक तत्व कहा जाता हे जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

(1)उत्पादन तकनीक–संस्था उत्पादन कार्य में किस उत्पादन तकनीक का प्रयोग कर रही है, यह तथ्य लागतों के निर्धारण में महत्वपूर्ण है। साधारणतया अत्याधुनिक उत्पादन तकनीक का प्रयोग करने से प्रारम्भ में स्थायी साधनों की लागत बहुत ऊॅची होती है,परन्तु अधिक उत्पादन होने पर प्रति इकाई बहुत कम लागत आती है।

(2) उत्पादन की दर–यदि संस्था मशीनों का अधिक प्रयोग कर रही है तथा उत्पादन की दर भी अधिक है तो प्रति इकाई लागत कम आयेगी। इसके विपरीत यदि कम दर पर उत्पादन हो रहा है तो प्रति इकाई लागत अधिक होगी। इसके विपरीत संस्था श्रमिकों के माध्यम से उत्पादन करती है तथा मशीनों का कम प्रयोग करती है तो अधिक दर से उत्पादन करने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत उस अनुपात में कम नहीं होगी जिस अनुपात मे मशीनों का अधिक प्रयोग करने से कमी आती है।

(3) प्लान्ट की कितनी क्षमता का प्रयोग हो रहा है–यदि प्लान्ट की शत–प्रतिशत क्षमता का प्रयोग हो रहा है तो उत्पादन लागत प्रति इकाई कम होगी,यदि प्लान्ट की कम क्षमता का प्रयोग हो रहा है तो प्रति इकाई उत्पादन लागत अधिक होगी।

(4)प्लाण्ट की विशालता–प्लाण्ट कितना विशाल है अर्थात् उसका आकार कितना बड़ा है इस तथ्य पर भी उत्पादन की लागत निर्भर करती हैं प्लाण्ट का आकार बड़ा होने पर अनेक तरह की आन्तरिक तथा बाहा बचतें प्राप्त होती हैं जिनके कारण प्रति इकाई उत्पादन लागत घट जाती हैं परन्तु यदि प्लाण्ट का आकार बहुत बड़ा हो और उसकी व्यवस्था ठीक तरह से नहीं हो रही हो तो लागतें प्रबन्धकीय अमितव्ययितओं के कारण बढ़ने लगती हैं।

(5) उत्पादन कार्य में आने वाली बाधाएँ–यदि उत्पादन कार्य निरन्तर बगैर किसी बाधा के चल रहा हे तो प्रति इकाई लागत कम होगी। इकाई विपरीत उत्पादन कार्य बिजली हड़ताल,तालाबन्दी,मशीन की खराबी आदि कारणों से रूक–रूक कर होता है तो प्रति इकाई लागत बढ़ जायेगी।

(6) उत्पादन के ढेर का आकार क्या है?–उत्पादन के ढेर का आकार आर्थिक होने पर प्रति इकाई लागत कम होगी। इसके विपरीत उत्पादन का आकार अनार्थिक हो अर्थात् बहुत बढ़ा या बहुत छोटा हो तो उत्पादन की प्रति इकाई लागत अधिक होगी।

(7) कुशल कर्मचारी एवं प्रबन्धक–यदि प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों की कुशलता उच्च किस्म की है तो प्रति इकाई लागत कम होगी अन्यथा अधिक होगी।

(8) उत्पादन साधनों का मूल्य–उत्पादन साधनों के मूल्य तथा वस्तु के मूल्य मे धनात्मक सम्बन्ध हेाता है अर्थात् उत्पादन के साधनों के मूल्यों में वृद्धि होने पर वस्तु का प्रति इकाई मूल्य भी बढ़ जाता हैं इसी तरह से उत्पादन साधनों के मूल्य में कमी आने पर उत्पादन का प्रति इकाई मूल्य घट जाता है।

(9) श्रमिकों में असन्तोश–यदि श्रमिकों में असन्तोश है,संस्था में तालाबन्दी,हड़ताल,धीमे काम करो आदि आन्दोलन चलते रहते हैं तो प्रति इकाई उत्पादन लागत अधिक होगी,अन्यथा कम होगी।

प्रश्न

1.विभिन्न लागत अवधारणाओं को विस्तार से समझाइए।

Explain in detail different cost concepts.

2. लागत अवधारणा का प्रबन्धकीय निर्णय में उपयोग बताइए।

Write use of cost concepts in Managerial Decisions.

3. लागत व्यवहार के निर्धारक तत्वों का वर्णन कीजिए।

Explain the determinants of cost behaviou.

4. निम्न में अन्तर कीजिए–

(a) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लागतें

(b) रोकड़ी लागतें तथा पुस्तकीय लागतें

(c) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लागतें

(d) लेखा लागतें तथा आर्थिक लागतें।

Differentiate between the following-

i Shotr-term and Long-term Cost.

ii Out of Pocket cost and Book cost.

iii Direct and Indirect cost.

iv Acoounting cost and Economic cost.

5. निम्नलिखित लागत अवधारणाओं को सोदाहरण स्पष्टकीजिए–

1. सीमान्त लागत
2. अतिरिक्त लागत
3. अर्द्ध–परिवर्तशील लागत
4. अवसर लागत
5. निहित लागत।

Explain and illustrate the following cost concepts.

(a) Marginal cost.

(b) Incremental cost.

(c) Semi-variable cost.

(d) Opportunity cost.

(e) Implicit cost.

6. सशक्त लागतें क्या हैं? सोदाहरण स्पष्टकीजिए।

What are relevant costs ? Explain and illustrate.

7. निर्णय लेने में प्रासंगिक विभिन्न अवधारणाओं को समझाइए।

Discuss the various cost concepts relevant to decision-making.

8. आर्थिक विशमता में लागत की अवधारणओं को समझाइए।

Discuss cost concepts in economic analysis.

9. उपर्युक्त उदाहरण एवं रेखाचित्र की सहायता से औसत लागत एवं सीमान्त लागत के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को स्पष्टकीजिए।

Explain the relationship between Average cost and Marginal cost with suitable example and diagram.

10. स्थायी लागतें एवं परिवर्तनशील लागतों की अवधारणाओं को स्पष्टकीजिए। स्थायी एवं परिवर्तनशील लागतों का भेद किस प्रकार प्रबन्धकीय निर्णयों के लिए महत्वपूर्ण है?

Explain the concepts of Fixed cost and Variable cost. How the Difference between Fixed costs and variable costs is important for managerial decision making ?

11. वास्तविक लागत एवं अवसर लागत की अवधारणा को स्पष्टकीजिये। अवसर लागत की धारणा प्रबन्धकीय निर्णयों के लिये किस प्रकार महत्वपूर्ण होती है?

Explain the concepts of real cost and opportunity cost. How the concept of opportunity cost is important for managerial decisions ?

पैमाने की मितव्ययिताएँ एवं अमितव्ययिताएँ

(Economics and Diseconomies of Scale)

जब कोई व्यावसायिक संस्था अपना उत्पादन अथवा क्रय–विक्रय बड़े पैमाने पर करती है,तो उसे बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के कारण अनेक तरह की आन्तरिक एवं बाह्य बचतें प्राप्त होती है। अतः उस संस्था की प्रति इकाई उत्पादन लागत अन्य छोटी फर्मों की तुलना में कम आती है इसी कारण से कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन करने के लिए संस्था अपने कारोबार का आकार तब तक बढ़ाती जाती है जब तक कि संस्था का कारोबार अनुकुलतम आकार का नहीं हो जाता है। व्यवसाय अथवा फर्म की प्रति इकाई लागत न्यूनतम होती है तथा उत्पादन अधिकतम होता है। यदि संस्था इस अनुकुलतम आकार के बाद भी अपने कारोबार को बढ़ाती है, तो उसकी प्रति इकाई लागत बढ़ने लगती है,क्योंकि संस्था के यहॉ कई तरह की अमितव्ययिताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे वित्तीय,प्रबन्धकीय,श्रम एवं विपणन सम्बन्धी कठिनाइयॉ। इस अध्याय में हम,व्यवसायी को जो पैमाने की मितव्ययिताएँ एवं अमितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं, उनका विस्तार से अध्ययन करेंगे।

पैमाने की मितव्ययिताएँ

(Economies of Scale)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो.मार्शल के अनुसार एक फर्म या उत्पादने संस्था को बड़े पैमाने की उत्पत्ति से निम्न दो प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं : (1) आन्तरिक बचतें (2) बाह्य बचतें। आन्तरिक मितव्ययिताएँ व्यक्तिगत संस्था या फर्म को उसके बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के कारण प्राप्त होती हैं। जैसे विशिष्ट ीकरण एवं श्रम विभाजन, तकनीकि सुविधा,प्रबन्धकीय कुशलता,वित्तीय लाभ, विपणन कार्य में बचत, तथा व्यापारिक बचतें। जबकि बाह्य बचतें उद्योग की अनेक अथवा समस्त फर्मों को नियोजन,केन्द्रीयकरण,राष्ट्रीय महत्थ्व अथवा बड़े आकार के कारण प्राप्त होती हैं। अब हम सर्वप्रथम आन्तरिक बचतों का विस्तार से अध्ययन करेंगें।

1. आन्तरिक बचतें

(Internal Economies)

आन्तरिक बचतें केवल बड़ी फर्मों को ही प्राप्त होती हैं,छोटी फर्मों को ये बचतें प्राप्त नहीं हो सकती हैं। क्योंकि आन्तरिक बचतों का कारण अविभाज्य साधनों का समुचित प्रयोग जैसे मशीन अथवा प्लान्ट की पूर्ण क्षमता तक प्रयोग,विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन,उत्पादन कार्य में नवीन एवं आधुनिक विधियों का प्रयोग,प्रबन्धकीय कुशलता, श्रेष्ठ आन्तरिक संगठन आदि। आन्तरिक बचतों की निम्न विशेष ताएँ होती हैं :

(1) ये बचतें व्यक्तिगत फर्म या संस्था को ही प्राप्त होती है।

(2) ये बचतें फर्म के स्वयं के क्रिय–कलापों का परिणाम हैं अर्थात् ये बचतें अन्य फर्मों के कार्यों पर आश्रित नहीं होती है।

(3) ये बचतें एक व्यक्तिगत फर्म के द्वारा उत्पादन के पैमाने में वृद्धि के कारण प्राप्त होती हें अतःआन्तरिक बचतें तब तक प्राप्त नहीं हो सकती हैं जब तक फर्म द्वारा उत्पादन में वृद्धि नहीं की जाय।

(4) आन्तरिक बचतें फर्म द्वारा अपनाई गई उत्पादन विधियों का श्रेष्ठतम तरीके से प्रयोग का परिणाम हैं।

(5) ये बचतें प्लान्ट एवं मशीनों का श्रेश्ठतम प्रयोग करके प्राप्त की जा सकती हैं।

आन्तरिक बचतों के उत्पन्न होने के कारण

(Causes of Internal Economies)

वर्तमान समय में आन्तरिक बचतों के उत्पन्न होने के अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन फिर भी व्यवहार में आन्तरिक बचतें उत्पन्न होने के निम्न दो प्रमुख कारण हो सकते हैः

(1) उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता–उत्पादन के अनेक साधन जैस प्लान्ट,मशीन एवं प्रबन्ध इस स्वभाव के होते हैं कि एक सीमा के पश्चात् इनका विभाजन नहीं किया जा सकता है। अतः उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करके अविभाज्य साधन की पूरी–पूरी उत्पादन क्षमता का प्रयोग करके बचत प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ,एक प्रबन्धक 100 कर्मचारियों का कार्य देख सकता है,अतः यदि

संस्था 20 कर्मचारी ही रखेगी तो प्रबन्धक की प्रति इकाई लागत अधिक आयेगी और इसके विपरीत यदि संस्था 200 कर्मचारी रखेगी तो प्रबन्धक की लागत प्रति इकाई कम होगी।

(2) श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ–यदि फर्म बड़े पैमाने पर उत्पादन करे तो उसे श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के लाभ होंगे क्योंकि श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण से श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि होती है तथा वे कम समय में अधिक उत्पादन प्रक्रिया को समर्थ होते हैं। श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण की प्रक्रिया में फर्म की उत्पादन प्रक्रिया को कई प्रक्रियाओं में विभाजित करके विशिष्ट मशीनो एवं प्रशिक्षित श्रमिकों से काम लिया जाता है,जिससे श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि होती है। श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण की प्रक्रिया केवल श्रमिकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि प्रबन्ध एवं संगठ न में भी इसे अपनाया जाता है जिससे प्रति इकाई लागत में आशातीत कमी आती है।

आन्तरिक बचतों के प्रकार

आन्तरिक बचतें अनेक प्रकार की हो सकती हैं,जिनमें निम्न प्रकार की बचतें प्रमुख हैं–

(1) तकनीकी मितव्ययिताएँ–तकनीकी बचतें फर्म द्वारा श्रेष्ठतकनीकी एवं आधुनिक प्लान्ट के प्रयोग के कारण प्राप्त होती हैं। तकनीकी बचतें भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं, जैसे–

1. **श्रेष्ठप्रविधियों का प्रयोग**–बड़ी फर्म के लिए यह सम्भव है कि वह अपनी उत्पादन प्रक्रिया में श्रेश्ठतम नवीन प्राविधियों का प्रयोग करके उत्पादन की प्रति इकाई लागत को न्यूनतम रख सके। छोटी फर्म के आर्थिक साधन सीमित होने के कारण उनके द्वारा श्रेष्ठ प्रविधियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।
2. **बड़े आयाम की मितव्ययिताएँ**–बड़ी मशीनों की कीमतें छोटी मशीनों की कीमतों के अनुपात में उतनी ज्यादा नहीं है अतः बड़ी मशीनों का प्रयोग करके उत्पादन की प्रति इकाई लागत को घटाया जा सकता है क्योंकि बड़ी मशीन के संचालन व्यय प्रति इकाई कम होते हैं।
3. **विशिष्टीकरण से बचतें**–यदि फर्म द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाय तों श्रम विभाजन व विशिष्टीकरण का क्षेत्र व्यापक हो जायेगा। विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन

से श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी तथा फर्म की प्रती इकाई लागत में कमी भी होगी।

4. **उत्पादन से सम्बन्ध प्रक्रियाओं की बचत**–फर्म द्वारा वृहद् स्तर पर उत्पादन करके उत्पादन से सम्बन्ध समस्त प्रक्रियाओं को एक ही स्थान पर सम्पन्न किया जा सकता है,जिससे अनेक तरह की आन्तरिक बचतें प्राप्त होती हैं। उत्पादन से सम्बन्ध प्रक्रियाओं की बचत निम्न तरह से सम्भव हैं–

(1) सभी अलग–अलग प्रक्रियाओं का संचालन एक ही स्थान पर किया जाय।

(2) अवशिष्ट सामग्री पर आधारित उद्योगों का विकास किया जाय।

(3) कच्चे माल की पूर्ति परस्पर सम्बद्ध प्रक्रियाओं में निरन्तर बनाये रखी जाय।

(4) ईंधन एवं शक्ति के साधनों में बचत की जाय।

(5) अलग–अलग व्यापारिक सौदों की मात्रा को न्यूनतम किया जाय।

(2) वित्तीय बचतें–बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाली फर्म के पास आन्तरिक एवं बाह्य वित्तीय साधन बहुत होते हैं, उन्हें आसानी से तथा कम ब्याज दर पर तुरन्त ऋण मिल जाता है क्योंकि इन फर्मों की साख बहुत अधिक होती है। बड़ी फर्मों के अंश जनता द्वारा तुरन्त खरीद लिये जाते हैं तथा वित्तीय साधन बहुत सीमित होते हैं।

(3) जोखिम उठाने की क्षमता अधिक–बड़ी फर्मों द्वारा अनेक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, अतः बड़ी फर्म अपनी जोखिम को समस्त उत्पादनों पर फैला देती है,जिससे फर्म की जोखिम उठाने की क्षमता बढ़ जाती है। बड़ी फर्म किसी एक उत्पाद की हानि को दूसरे उत्पाद के लाभ से आसानी से समायोजित कर सकती है, जबकि छोटी फर्म के लिए इस तरह की हानि,उसके अस्तित्व का संकट बन सकती है। बड़ी फर्म के लिए जोखिम उठाने की बचतें,कच्चे माल के स्त्रोतों में विविधता,उत्पादन में विविधता तथा बाजारों की विविधता के कारण हैं।

(4)प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी बचतें–बड़े पैमाने की फर्म द्वारा प्रबन्ध में विशिष्टीकरण अपनाया जा सकता है,जैसे उत्पादन विभाग,क्रय विभाग, विक्रय विभाग आदि तथा प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक

विशेष ज्ञ हो सकता है। विशिष्टीकरण से कार्य–कुशल में वृद्धि होगी तथा अपव्यय में कमी आयेगी। ये बचतें एक संस्था अपने आकार को बड़ा करके निम्न रूप में प्राप्त कर सकती हैं:

(a) **कार्य का भारार्पण**–संस्था का आकार बड़ा बनाकर एक दक्ष प्रबन्धक छोटे–छोटे अनेक कार्यों को अपने सहायकों को सौंप देता है जिससे उच्च प्रबन्धक के पास महत्वपूर्ण निर्णयों एवं समस्याओं के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। कार्यों का भारार्पण संस्था की कुशलता बढ़ाने में सहायक होता है।

(b) **कार्यात्म विशिष्टीकरण**–बड़ी संस्था में प्रबन्ध का कार्य कई विभागाध्यक्षों को सौंपा जा सकता है तथा एक विभाग के कार्य को भी अनेक उपविभागों में बॉटा जा सकता है और प्रत्येक उपविभाग का एक इन्चार्ज बनाया जा सकता है। इस प्रकार के कार्यात्मक विशिष्टीकरण से संस्था का प्रत्येक कार्य सुव्यस्थित ढंग से संचालित हो सकता है,जिससे फर्म के उत्पादन में वृद्धि होती है।

(5) **विपणन एवं वितरण सम्बन्धी बचतें**–फर्म द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से,असे क्रय,विक्रय तथा वितरण का भी बड़े पैमाने पर ही प्रबन्ध करना पड़ता है। लेकिन उपर्युक्त कार्य बड़े पैमाने पर करने से निम्न बचतें प्राप्त होती हैं–

(a) बड़ी मात्रा में क्रय से क्रय मूल्य में छुट एवं कमी।

(b) कच्चे माल के क्रय तथा निर्मित माल के विक्रय पर यातायात एवं परिवहन लागत में बचत सम्भव।

(c) बड़ी फर्म की सौदा करने की ताकत ज्यादा होती है जिससे कच्चे माल की लागत कम आती है तथा निर्मित माल का अधिक मूल्य प्राप्त करना सम्भव होता है।

(d) प्रति इकाई विज्ञापन लागत कम आती हैं।

II.बाह्य बचतें

(External Economies)

उत्पादन की ऐसी बचतें, जिनका लाभ सम्पूर्ण उद्योग की फर्मो को संयुक्त रूप से प्राप्त होता हों,बाह्य बचतें कहलाती है। बाह्या बचतों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती हे कि इन बचतों का लाभ उद्योग की समस्त इकाईयों को संयुक्त रूप से मिलता है अर्थात् बाह्य बचतें किसी फर्म विशेष की उत्पादन वृद्धि पर निर्भर नहीं होती हैं,बल्कि समस्त उद्योग या उद्योगों का विकास होने पर उस स्थान विशेष में कच्चा,यन्त्र व औजारों की सुविधा, अवशिष्ट पदार्थों को प्रयोग में लाने वाले उद्योगों का विकास,अनुसन्धानों का लाभ,परिवहन एवं संचार सुविधाओं का विकास आदि।

परिभाषाएँ

''बाह्य बचतें वे होती हैं जिनमें उद्योग विशेष के सभी व्यवसायियो का भाग होता है।''

–प्रो.चैपमैन

''बाह्य बचतें वे बचतें है जो कई फर्मों को या उद्योगों को प्राप्त होती हैं जबकि एक उद्योग या उद्यागों के एक समूह मे उत्पादन का पैमाना बहुत बढ़ जाता है। इन पर एक फर्म के आकार के बढ़ने से केवल उसी फर्म का एकाधिकार नहीं हो जाता है,बल्कि ये बचतें एक फर्म को उस दशा में मिलती है जबकि किसी अन्य फर्मों की कार्य–कुशलता पर अनुकुलन प्रतिक्रिया होती है, चाहे ये फर्मे उसी उद्योग की हों अथवा अन्य उद्योग की हों तों इन फर्मो को बाह्य बचतों का लाभ प्राप्त हुआ माना जाता है।''

–प्रो केअरक्रास

''उत्पादन की बाह्य बचतें एक व्यक्तिगत फर्म की उत्पत्ति वृद्धि की अपेक्षा सम्पूर्ण उद्योग में होने वाली उत्पत्ति की वृद्धि पर निर्भर करती हैं जबकि एक उद्योग के आकार में वृद्धि होने से उसमें स्थित व्यक्तिगत फर्मों की लागतें कम हो जाती हैं।''

–स्टोनियर एवं हेग

बाह्य बचतें उत्पन्न होने के कारण

बह्य बचतें अनेक कारणों से उत्पन्न होती हैं, लेकिन इन कारणों में निम्न कारण प्रमुख हैं–

(1) एक स्थान विशेष में उद्यागों का स्थानीयकरण–यदि एक स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष में एक ही प्रकार की अनेक औद्योगिक फर्में स्थापित हो जाती हैं तो इस केन्द्रीयकरण के कारण उस स्थान विशेष की उस स्थान विशेष की उस उद्योग विशेष के लिए प्रसिद्धि का बढ़ना प्रारम्भ हो जाता हैं, क्योंकि एक ही स्थान पर केन्द्रीत फर्मों को निम्न लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं–

1. बैकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं की स्थापना।
2. सहायक एवं आश्रित उद्योगों का विकास।
3. यातायात एवं संचार माध्यमों का विकास।
4. कच्चे माल के उत्पादकों से अनायास सम्पर्क।
5. निर्मित माल के क्रेताओं से सम्पर्क आसान।
6. अवशिष्ट पदार्थों से अधिकतम प्राप्ति सम्भव।

(2) केन्द्रित उद्योगों मे विशिष्ट ीकरण आसान–जब एक ही स्था पर उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो जाता है तो वहॉ स्थापित विभिन्न फर्में विशिष्ट ीकरण को अपनाकर बचतें प्राप्त करती हैं। ऐसे केन्द्रित स्थान पर कई विशिष्ट सेवायें प्रदान करने वाली संस्थायें स्थापित हो जाती हैं तथा अनेक विशेष ज्ञ कम शुल्क पर सेंवायें प्रदान करनें लगतें हैं। ये विशेष ज्ञ सेवायें निम्न हो सकती हैं–

1. कच्चे माल की आपूर्ति के सम्बन्ध में।
2. विज्ञापन एवं प्रचार माध्यम।
3. विशिष्ट मशीनों की आपूर्ति।

बाह्म बचतों के प्रकार

(Types of External Economics)

बाह्म बचतें अनेक प्रकार की होती हैं, जिनमें निम्न प्रमुख हैं–

1. **केन्द्रीयकरण की बचतें**–जब बहुत–सी उत्पादन संस्थायें एक ही स्थान पर केन्द्रीत हो जाती हैं तो इन संस्थाओं को एक ही स्थान पर केन्द्रीत होने के परिणामस्वरूप अग्र प्रकार लाभ प्राप्त होते हैं–

1. प्रत्येक संस्था को आसानी से कुशल,अर्द्धकुशल तथा अकुशल श्रमिक उपलब्ध हो जाते हैं।
2. श्रमिकों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।
3. सस्ती दर पर परिवहन एवं संचार के साधन उपलब्ध।
4. सहायक एवं पूरक उद्योगों की स्थापना।
5. पर्याप्त मात्रा में न्यूनतम दर पर कच्चे माल की आपूर्ति बनी रहती है।
6. बैकिंग,बीमा तथा वित्तीय संस्थाओं के कार्यालय स्थापित हो जाते हैं।
7. प्रचुर मात्रा में कम दर पर शक्ति के साधन सुलभ।
8. अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग सम्भव।
9. मरम्मत एवं तकनीकी सुविधाओं का विकास।

2. **आकार एवं शक्ति के कारण बचत**–उद्योग के आकार में वृद्धि से बड़ी–बड़ी फर्में मिलकर यातायात सुविधा,विज्ञापन व्यवस्था,शोध एवं अनुसन्धान कार्य करती है जिसका लाभ सभी फर्मो को मिलता है। एक ही स्थान पर केन्द्रित फर्मे सामूहिक संघ द्वारा बनाकर आपसी प्रतिस्पर्द्धा से छुटकारा पा सकती हैं। संयुक्त रूप से चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा नियमित रूप से तकनीकी पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा सकता है तथा केन्द्रीय शोध संस्थान की स्थापना की जा सकती है जिसका लाभ सभी फर्मों को मिलता है।

3. **ज्ञान की बचत**–एक ही स्थान पर केन्द्रीत फर्में अपने व्यवसाय सम्बन्धी ज्ञान का आदान–प्रदान बहुत आसानी से कर सकती हैं जिससे सभी फर्मों को लाभ होता है। यह ज्ञान कच्चे माल के क्रय के सम्बन्ध में, निर्मित माल के बाजार के सम्बन्ध में तथा उत्पादन लागत के सम्बन्ध में हो सकता है।

4. **उद्योग के राष्ट्रीय महत्व के फलस्वरूप प्राप्त बचतें**–एक ही स्थान पर उद्योग का केन्द्रीयकरण एवं विकास होने के कारण उस स्थान का महत्व बढ़ जाता है। केन्द्रीत उद्योग का देश की अर्थव्यवस्था में विशेष महत्व बन जाता है, उस उद्योग के विकास,विस्तार एवं स्थिरता का देश के रोजगार एवं व्यापार पर बहुत प्रभाव पड़ता है,अतः

सरकार को उस उद्योग के विकास,विस्तार तथा संरक्षण के लिए उचित नीतियॉ बनानी पड़ती हैं।

5. **नियोज की बचतें**–एक ही स्थान पर उद्योग का केन्द्रीयकरण होने से नियोजन की बचतें प्राप्त करना सम्भव है,क्योंकि एक ही फर्म के नियोजित विकास का तुरन्त लाभ मिल जाता है। उद्योग में विशिष्टीकरण आसान हो जाता है। उद्योग की कुछ बड़ी व जटिल उत्पादन प्रक्रियाओं को छोटी एवं सरल प्रक्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है। उद्योग की क्रियाओं को पृथक्–पृथक् करके विशिष्ट फर्मों द्वारा अधिक कुशलता से संचालित किया जा सकता है।

आन्तरिक एवं बाह्म बचतों की तुलना

आन्तरिक बचतें एक फर्म विशेष के आकार में वृद्धि का परिणाम है, इसके विपरीत बाह्म बचतें सम्पूर्ण उद्योग के आकार में वृद्धि अथवा उद्योग के स्थायीकरण का परिणाम है। संक्षेप में आन्तरिक बचतें एक फर्म विशेष को प्राप्त होती हैं। आन्तरिक बचतें फर्म विशेष के आकार में वृद्धि या फर्म में विशिष्टीकरण के कारण उत्पन्न होती हैं। बाह्म बचतें स्थानीयकरण व क्षेत्र विशेष में विशिष्टीकरण का परिणाम है। आन्तरिक बचतें केवल एक फर्म विशेष को लाभ पहुॅचाती हैं, जबकि बाह्म बचतें समान रूप से सभी फर्मों को लाभ पहुॅचाती हैं।

कोई बचत आन्तरिक बचत है अथवा बहि बचत है यह निश्चित करना कई बार कठिन हो जाता है,क्योंकि एक बचत विशेष एक फर्म विशेष के लिए आन्तरिक हो सकती है तथा अन्य फर्मों के लिए भी हो सकती हैं जैसे चीनी मिल द्वारा अपने अवशिष्ट पदार्थ का उपयोग करने के लिए शराब का कारखाना स्थापित किया जाय तो उस चीनी मिल में संविलियन हो जाय तो यह बचत सभी मिलों के लिये आन्तरिक बचत बन जायेगी। इसी कारण कुछ अर्थशास्त्री आन्तरिक एवं बहि बचतों का भेद करना निरर्थक समझते हैं और वे इन बचतों को आन्तरिक–बहि बचतें कहना ज्यादा उपयुक्त समझते हैं। यहॉ दो प्रमुख अर्थशास्त्रियों के विचार दिये गये हैं जो इस मत के हैं।

'' व्यक्तिगत फर्मों के लिए आन्तरिक तथा बहि दोनो प्रकार की बचतें हो सकती है परन्तु समस्त अर्थव्यवस्था के लिए केवल आन्तरिक बचतें ही हो सकती है।''

''बड़े पैमाने की बचतों को आन्तरिक–बहि बचतें कहा जाना चाहिए। आन्तरिक बचतें फर्म के आकार में वृद्धि के कारण प्राप्त होती हैं, तो बहि बचतें उद्योग के आकार में वृद्धि के कारण प्राप्त होती हैं।''

निष्कर्ष

उपयुर्क्त अध्ययन से हमें ज्ञान होता है कि बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था से हमें आन्तरिक एवं बहि बचतें प्राप्त होती हैं। आन्तरिक बचतों का कारण साधरणतया साधनों की अविभाज्यता एवं विशिष्ट ीकरण है जबकि बर्हि बचतों का कारण स्थानीयकरण,उद्योग के आकार में वृद्धि एवं केन्द्र विशेष में बड़े पैमाने पर विशिष्टीकरण को अपनाना है। आन्तरिक एवं बहि बचतें वर्तमान युग में बड़े पैमाने के उत्पादन के आधार–स्तम्भ हैं तथा समाज में हो रहा तीव्र आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण कारण हैं। बहि बचतें हमें यह बताती हैं कि आधुनिक अर्थव्यवस्था किस सीमा तक आत्मनिर्भर है जबकि आन्तरिक बचतें हमें यह बताती हैं कि फर्म के आकार में वृद्धि करके कितनी बचत प्राप्त की जा सकती है। आन्तरिक एवं बहि बचतों से साधनों की उत्पादन की क्षमता बढ़ती है एवं लागत में कमी आती है जिसका लाभ केवल उत्पादकों को ही नहीं मिलता है बल्कि उपभोक्ताओं,श्रमिकों सरकार,समाज,वितरक तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्राप्त होता है।

पैमाने की अमितव्ययिताएँ

(Diseconomies of Sale)

उपर्युक्त अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि बड़ पैमाने पर उत्पादन करने से हमें अनेक तरह की बचतें प्राप्त होती है लेकिन यदि फर्म अपने व्यवसाय को अनुकुलतम पैमाने के पश्चात् भी बढ़ाये तो उसे आन्तरिक एवं बहि बचतों के स्थान पर अमितव्ययितायें प्राप्त होने लगेंगी,जससे फर्म के उत्पादन की लागत बढ़ जायेगी तथा अकुशलताओं में वृद्धि होगी। इसी कारण प्रत्येक फर्म अपने व्यवसाय को अनुकूलतम आकार तक ही बढ़ाना पसन्द करती है। यदि कोई फर्म अनुकूलतम आकार पश्चात् भी उत्पादन बढ़ाती है तो असे निम्न अमितव्ययिताओं का सामना करना पड़ता है।

(1) प्रबन्धकीय कठिनाइयॉ–उद्योग का आकार जब एक सीमा से अधिक बढ़ जाता है तो उसकी प्रबन्ध–व्यवस्था लड़खड़ाने लगती है तथा निम्न बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं–

1. विभागों तथा उत्पादन क्रियाओं में समन्वय की समस्या।
2. नीति–निर्धारण में वैचारिक भिन्नता की समस्या।
3. लाल फीताशाही का बोलबाला।
4. मालिकों तथा श्रमिकों के मध्ये दूरी बढ़ने से आपसी मन–मुटाव में वृद्धि जिससे हड़ताल एवं तालाबन्दी का बोलबाला।
5. प्रबन्धकीय कुशलता में कमी।

(2) आर्थिक कठिनाइयॉ–अनुकुलतम आकार के पश्चात् यदि फर्म के आकार में वृद्धि होती है तो निम्न वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है–

1. प्रभावी नियन्त्रण नहीं रह पाता हैं।
2. ब्याज अधिक दर से चुकाना पड़ता है।
3. सरकारी नियन्त्रण बढ़ जाते हैं।
4. समाज में संस्था को शोषक के रूप में मान्यता मिल जाती है।

(3) सेविवर्गीय कठिनाइयॉ–अनुकुलतम आकार के पश्चात् भी यदि फर्म के आकार में वृद्धि की जाती है। तो निम्न सेविवर्गीय कठिइयॉ आती हैं–

1. श्रम सम्बन्धों में कटुता बढ़ने लगती है।
2. परस्पर समन्वय तथा नियन्त्रण के अभाव में अकुशलता बढ़ती है।
3. हड़ताले,तालाबन्दी,काम रोको,धीरे काम करो आदि आन्दोलनों की संख्या बढ़ जाती है।
4. कर्मचारियों के निरीक्षण में बाधा आती है।
5. श्रम विभाजन का कुशल प्रयोग नहीं हो पाता है।

(4) विपणन कार्य में कठिनायॅ–एक सीमा के पश्चात् यदि फर्म के आकार में वृद्धि की जाती है तो निम्न विपणन बाधाओं का सामना करना पड़ता है–

1. समन्वय,नियन्त्रण एवं निरीक्षण में कठिनाई आती है।

2. कट्टर प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है।
3. विज्ञापन व्यव में वृद्धि होती है।
4. दूर–दूर के बाजारो पर नियन्त्रण करने के लिए व्यय में वृद्धि करनी पड़ती है।

(5) सरकार द्वारा नियन्त्रण–एक सीमा से अधिक फर्म का आकार बढ़ जाने पर सरकार को एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार नियन्त्रण अधिनियम के अन्तर्गत प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं। सरकार जो छोटे उद्योग को सुविधाएँ देती हैं,उनसे वंचित रहना पड़ता है। कच्चे माल के कोटे में कमी आ सकती है तथा फर्म के विस्तार के लिए स्थान का अभाव हो सकता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि फर्म के आकार में वृद्धि उसी सीमा तक करना श्रेष्ठहै जब तक फर्म को आन्तरिक एवं बहि बचतें प्राप्त होती रहें, इस बिन्दु के पश्चात् आकार में वृद्धि नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे संस्था को अमितव्ययिताएँ ही प्राप्त होंगी।

प्रश्न

1.पैमाने की मितव्ययिताएँ तथा अमितव्ययिताओं का वर्णन कीजिए।

Discuss economics and diseeconomiesa of scale of production.

2. ''आन्तरिक बचतें अविभाज्यता तथा विशिष्टीकरण का परिणाम हैं, तो बहि बचतें उद्योग के आकार, स्थानीयकरण तथा विशिश्टिकरण का परिणाम हैं।'' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

"Internal Economies are the result of indivisibility and specialization,while the external economies are the result of the size of industry,localization and specialization."Elucidate.

3. आन्तरिक तथा बहि मिव्ययिताओं से आप क्या समझते हैं? इसका महत्व स्पष्टकीजिए तथा उद्योग के आकार के साथ इनका सम्बन्ध बताइए।

What do you mean by intermal and extermal economies ? Explain their importance. Discuss the relathion of these economies with the size of industry.

4.बड़े पैमाने के कौन–कौन से लाभ हैं? एक फर्म कैसे प्रतियोगी फर्म बनती हैं?व्याख्या कीजिए।

What are economies of large scale ? What makes a firm competitive ? Explain.

5.पैमाने की मितव्ययिताओं व अमितव्ययिताओं से आपका क्या तात्पर्य है? दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की सहायता से इन्हें समझाइए।

What do you mean by economies and diseconomies of scale ? Explain them with the help of long run average cost curve.

6.बड़े पैमाने की उत्पत्ति से आप क्या समझते हैं? बड़ पैमाने की उत्पत्ति में आन्तरिक एवं बहि बचतें क्या–क्या हैं?

What is meant by Large scale prpduction ? What are the internal and external economies of large scale production ?

16

उदासीनता वक्र विश्लेषण

(Assumption of Indifference Curve Analysis)

डदासीनता वक्र विश्लेषण अन्य आर्थिक नियमों की भॉति कई मान्यताओ पर आधारित है इनमें से कुछ महत्वपूर्ण मान्यतायें निम्नांकित हैं–

(1)समरूप एवं विभाज्य वस्तुओं का होना–उदासीनता वक्र विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता जिन वस्तुओं का उपभोग एवं उपयोग करता है,वे समरूप एवं विभाज्य होती हैं।

(2)उपभोक्ता विवेकपूर्ण व्यवहार करता है–प्रत्येक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं का क्रय एवं उपभोग करते समय विवेकपूर्ण व्यवहार करता है। प्रो.मार्शल की भॉति प्रो.हिक्स भी यह मानते है कि प्रत्येक उपभोक्ता इस प्रकार व्यवहार करता है जिससे कि उसे अधिकतम सन्तुष्टिप्राप्त हो सके। अधिकतम सन्तुष्टिके उद्देश्य की पूर्ति तभी की जा सकती है जब प्रत्येक उपभोक्ता का व्यवहार विवेकपूर्ण हो।

(3)बाजार का पूर्ण ज्ञान–उदासीनता वक्र विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक उपभोक्ता को बाजार की दशाओं का पूर्ण ज्ञान होता है। उसे प्रत्येक वस्तु की कीमत तथा स्था जहॉ पर विक्रय किया जा रहा है,की जानकारी रहती है। उपभोक्ता को इस बात की जानकारी भी रहती है कि वस्तुओं की मात्राओं के विभिन्न संयोग कैसे–कैसे हैं।

(4)संयोग के महत्व का पूर्ण ज्ञान–प्रत्येक उपभोक्ता को विभिन्न संयोगों से प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं की पूर्ण जानकारी रहती है तथा संयोगों में परिवर्तन होने पर उपयोगिता में होने वाले परिवर्तनों का भी पूर्ण ज्ञान होता है।

उदासीनता वक्र विश्लेषण का महत्व एवं उपयोग

(Importance and Uses of Indifference Curve Analysis)

आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में उदासीनता वक्र विश्लेषण का महत्व दिनों दिन बढ़ता हा रहा है। लोक–कल्याणकारी राज्यों में इस विश्लेषण की सहायता से कई समस्याओं का समाधान ढूॅढ़ाा जा सकता है। उदासीनता वक्र विश्लेषण के महत्व एवं इसके उपयोगों का निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है–

(1)उपभोग में महत्व–उदासीनता वक्र विश्लेषण की सहायता से उपभोक्ता की साम्यावस्था को ज्ञात किया जा सकता है। उपभोक्ता के दो विकल्पों के बीच पसन्दगी क्रम (Scale of Preference) को निर्धारित किया जा सकता है जिससे वह अपनी दी हुई आय से सन्तुष्टिके ऊॅचे स्तर पर रह सके। इसके अतिरिक्त, उदासीनता वक्र से उपभोक्ता की बचत (Comsumer"s Surplus) को भी मापा जा सकता है।

(2) उत्पादन के क्षेत्र में महत्व–उत्पादन के क्षेत्र में भी उदासीनता वक्र विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान है। यहॉ समोत्पादक वक्र (Isoproduct Curves) की सहायता से अध्ययन किया जाता है। ये वक्र उत्पादन के दो साधनों के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करते हैं जिनमें प्रत्येक संयोग समान उत्पादन की मात्रा को व्यक्त करता है। उत्पादक इन विभिन्न सयोंगों में से प्रत्येक के प्रति उसी प्रकार तटस्थ रहता है जिस प्रकार उपभोक्ता, क्योंकि इनमें से प्रत्येक संयोग समान उत्पादन देता है। उत्पादक विभिन्न संयोगों में से किसी एक संयोग का चुनाव करते समय तुलनात्मक लागत को मध्य–नगजर रखेगा।

(3)विनिमय में महत्व–उदासीनता वक्र विश्लेषण की सहायता से विनिमय की समस्या का समाधान ढूॅढ़ा जा सकता है। प्रायः वस्तु विनिमय के अन्तर्गत दो वस्तुओं विनिमय की सीमा निर्धारित की जा सकती है। उदाहरणार्थ A तथा B व्यक्तियों के पास तथा Y दो वस्तुएं हैं और वे आपस में इन दोनों वस्तुओं का विनिमय करना चाहते है। अतः इन दोनों व्यक्तियों की विनिमय साम्यावस्था उस बिन्दु पर स्थापित होगी जहॉ पर दोनों व्यक्तियों की सीमान्त प्रतिस्थापन दर समान हो अर्थात् दोनों व्यक्तियों के उदासीनता वक्र आपस में एक–दूसरे को स्पर्श करते हों।

(4)राजस्व में महत्व–राजस्व के क्षेत्र में भी उदासीनता वक्र विश्लेषण का दिनोंदिन महत्व बढ़ता जा रहा है। राजस्व के अन्तर्गत कर–निर्धारण में उदासीनता वक्रों की सहायता से उपभोक्ता के त्याग की दृष्टि से बिक्री कर अथवा उत्पादन कर श्रेष्ठहैं अथवा आयकर 1 संक्षेप में यह कहा जा सकता

है कि अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों के लगायें जाने से उपभोक्ताओं को अधिक लाभ होता है।

(5)राशनिंग के क्षेत्र में महत्व–आवश्यक वस्तुओं में व्याप्त संग्रह की प्रवृति एवं चोर–बाजारी नियन्त्रित करने तथा उचित मूल्य की दूकारनों से इनका वितरण करने हेतू राशनिंग का प्रयोग किया जाता है। राशनिंग से उपभोक्ता अपनी इच्छानुसार उपभोग की वस्तुओं की मात्रा का क्रय नहीं कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप उसके संतोश में कमी आ जाती है।

(6)अनुदानों के प्रभाव की माप में महत्व–कल्याणकारी सरकार समय–समय पर पिछड़े एवं निर्धन वर्ग को ऊॅचा उठाने हेतू आर्थिक सहायता (अनुदान) देती है। अनुदान देने से पूर्व सरकार अनुदान देने वाले वर्ग पर इसके प्रभावों की जॉच कर लेती है। इसका अध्ययन उदासीनता वक्र की सहायता से किया जा सकता है। सामान्यतः सरकार द्वारा दिये गये अनुदान दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं–

(प) उपभोक्ताओं को कम कीमत पर वस्तुओं की पूर्ति करना,

(पप) नगदी सहायता देकर।

उदासीनता वक्र विश्लेषण की विशेषताएँ

(Characteristics of Indifference Curve)

उदासीनता वक्र किसी समय विशेष में दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों के प्राथमिक क्रम (Scale of Preference) को प्रदर्शित करते हैं,जिनका चुनाव प्रत्येक उपभोक्ता को करना पड़ता हैं। उदासीनता वक्रों की निम्नलिखित विशेष ताएँ होती हैं–

(1)उदासीनता वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर दो वस्तुओं के विभिन्न संयोग समान संतुश्टि को प्रदर्शित करते हैं–प्रत्येक उदासीनता वक्र पर विभिन्न बिन्दु हो सकते हैं और इन बिन्दुओं से उपभोक्ता दो वस्तुओं के विभिन्न क्रम संयोगों का चुनाव करता है। इससे प्रत्येक उपभोक्ता दो वस्तुओं के विभिन्न क्रम संयोग की जानकारी प्राप्त हेाती है।

(2)उदासीनता वक्र दायीं ओर नीचे की तरफ झुकते हैं–उदासीनता वक्र के दायीं ओर नीचे की तरफ झुकने का कारण यह है कि यदि उपभोक्ता के लिए एक वस्तु की मात्रा कम की जाती है तो इस हानि की क्षतिपूर्ति करने हेतु उसे दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा देनी होगी। ऐसी स्थिति में उदासीनता वक्र का प्रत्येक अगला बिन्दु पहले वाले से नीचा एवं दाहिनी तरह ही होगा।

(3)उदासीनता वक्र का स्वरूप पूर्ति वक्र की भॉति धनात्मक नहीं होता–उदासीनता वक्र का स्वरूप पूर्ति वक्र की भॉति धनात्मक नहीं होता है। यदि यह मान भी लिया जावे तो यह उदासीनता वक्र की शर्त की पूर्ति नहीं करेगा।

(4)उदासीनता वक्र लम्बवत् (Vertical)**नहीं होते**–उदासीनता वक्र की आकृति लम्बवत् नहीं होती है

(5)उदासीनता वक्र की आकृति समानान्तर (Horizontal)नहीं होती–उदासीनता वक्र व अक्ष के समानान्तर नहीं है।

(6)उदासीनता वक्र एक–दूसरे को नहीं काटते–प्रत्येक उदासीनता वक्र अलग–अलग सन्तुष्टिका स्तर प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि हम स्पष्टकर चुके हैं कि मूल बिन्दु से उदासीनता वक्र जितनी दूरी पर होगा, वह सन्तुष्टिका उतना ही ऊॅचा स्तर दर्शाते है और जो उदासीनता वक्र नीचा होगा वह उतना ही कम सन्तुष्टिका स्तर प्रदर्शित करता है।

(7)उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते हैं–उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतेदार होते हैं। इसका मूख्या कारण प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर (Diminishing Marginal Rate of Substitution) है। उपभोक्ता जैसे–जैसे किसी वस्तु की उत्तोत्र इकाइयों का क्रय करता जाता है वैसे–वैसे उसे दूसरी वस्तु की कम इकाइयों का त्याग करना पड़ता है।

(8)विभिन्न उदासीनता वक्र सन्तुष्टिके विभिन्न स्तरों को प्रदर्शित करते हैं–उदासीनता वक्र एक–दूसरे के समानान्तर नहीं होते हैं तथा एक–दूसरे के ऊपर तथा नीचे दर्शाये जाते हैं।

माँग पूर्वानुमान के निर्धारक घटक

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टहोता है कि माँग पूर्वानुमान में प्रयुक्त होने वाले महत्वपूर्ण घटक निम्नलिखित हैंः

(1)अवधि–पूर्वानुमान लगाते समय सर्वप्रथम यह निर्धारित किया जाता है कि भविष्य में कितनी अवधि के लिए पूर्वानुमान लगाया जा रहा है। पूर्वानुमान अल्प समय और दीर्घ समय के लिए लगाये जाते हैं। अल्पकाल के लिए पूर्वानुमान तीन महीने,छः महीने अथवा एक साल के लगाये जा सकते है। परन्तु व्यवहार में एक वर्ष के पूर्वानुमान ही उचित माने जाते हैं। दीर्घकाल के लिए पूर्वानुमान 5,10,या20 वर्शों या इससे भी अधिक समय के लगाए जाते हैं। कौन सी अवधि का चुनाव करना है यह व्यवसाय व उद्योग की प्रकृति पर निर्भर करता है। जब माँग प्रत्येक माह में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति रखती है तो अल्पकाल के लिए पूर्वानुमान लगाए जाने चाहिए। यदि व्यवसाय में लम्बी अवधि के व्यवहार होते हैं तो दीर्घकाल के लिए पूर्वानुमान लगाने चाहिए।

आधुनिक अर्थशास्त्री अल्पकालीन पूर्वानुमान एवं दीर्घकालीन पूर्वानुमानों को विभिन्न समय के आधार पर परिभाषित न करके प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों व निर्णयों के आधार पर परिभाषित करते हैं। इस धारणा के अनुसार अल्पकाल के लिए पूर्वानुमान कार्य–कुशलता में वृद्धि के लिए आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता। इसके विपरीत दीर्घकालीन पूर्वानुमान योजनाएँ बनाने के सम्बन्ध में निर्णयों के लिए सूचनाएँ प्रदान करता है।

(2)माँग पूर्वानुमान के स्तर–माँग पूर्वानुमान विभिन्न स्तरों पर लगायाा जाता है,जो निम्न है–

(अ)व्यापक स्तर–इस स्तर में व्यवसाय की समस्त आर्थिक क्रियाएँ सम्मिलित हैं,जिनकों औद्योगिक उत्पादन,राश्ट्रिय आय तथा व्यय के उचित सूचकांकों के आधार पर मापा जा सकता है।

(ब)औद्योगिक स्तर–इस स्तर में उसी प्रकार की समस्त औद्योगिक इकाइयॉ सम्मिलित हैं।

(स)फर्म स्तर–इस स्तर में उद्योग विशेष से सम्बन्धित फर्म विशेष के लिए पूर्वानुमान किये जाते हैं।

किसी उद्योग की एक संस्था के लिए मांग पूर्वानुमान हेतू उपर्युक्त सभी स्तरों को ध्यान में रखा जाता है।

(3)सामान्य या विशिष्ट उद्देश्य–माँग पूर्वानुमान करते समय यह मुख्य घटक है कि पूर्वानुमान सामान्य है या विशिष्ट उद्देश्य के लिए किया जा रहा है। सामान्य उद्देश्य के लिए पूर्वानुमान एक विस्तृत पूर्वानुमान है जबकि विशिष्ट पूर्वानुमान उद्देश्य विशेष तक ही सीमित होता है।

(4)बाजार में माल की स्थिति–माल की स्थिति से तात्पर्य है कि उपभोक्ता वस्तु से पूर्व परिचित है कि नहीं। यदि कोई वस्तु नव उत्पादित है तो ऐसी वस्तु का माँग पूर्वानुमान का तरीका उस वस्तु की माँग पूर्वानुमान से अलग होगा जो कि बाजार में पहले से ही प्रचलित है।

(5)माल का वर्गीकरण–माँग पूर्वानुमान लगाते समय,उसकी शुद्धता के लिए,वस्तुओं को उनकी प्रकृति के अनुसार यथा– उत्पादक वस्तुएँ, स्थायी उपभोग की वस्तु अथवा उपभोक्ता की वस्तुएँ–में वर्गीकृत कर लेना चाहिए। फिर आर्थिक विश्लेषण कर पूर्वानुमान लगाना चाहिए।

माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व यथा बाजार में प्रतियोगिता की स्थिति,अनिश्चितता,सामाजिक शक्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

माँग पूर्वानुमान की विधियॉ
(Methods of Demand Forecasting)

माँग पूर्वानुमान की अनेक विधियॉ उपलब्ध हैं, परन्तु इनमें से कोई विधि ऐसी नहीं है जिसको दोशमुक्त कहा जा सके। माँग पूर्वानुमान के लिए आधुनिक एवं परम्परागत दोनों प्रकार की विधियों का ही उपयोग किया जता है। आधुनिक विधियॉ गणितात्मक एवं जटिल हैं जबकि परम्परागत विधियॉ भूतकालीन अनुभवों एवं अनुमानों को अधिक महत्व प्रदान करती हैं। प्रायः माँग पूर्वानुमानों के लिए निम्न विधियों का उपयोग किया जाता है :

(1) अनुभव के अनुसार अनुमान (Experience-Based Estimates)–प्रायः प्रबन्धकों को लम्बे समय तक एक कार्य को करते हुए इतना अनुभव हो जाता है कि वहा माँग में परिवर्तन लाने वाले तत्वों को निकट से जानने लगता है। अतःवह व्यक्ति अपने अनुभव के अनुसार यह अनुमान लगा लेते हैं कि उस वस्तु की भावी माँग क्या होगी। अनेक बार यह कहा जाता है कि एक मुंशी व्यवस्थित पूर्वानुमान लगाने की अपेक्षा अच्छा पूर्वानुमान लगा लेता है। इसका कारण यह है कि व्यावहारिक बातों का ज्ञान एक मुंशी को अधिक होता है।

(2)लोगों की सामूहिक राय मालूम करके (To know the collective opinion of the people)– इस विधि के अन्तर्गत विक्रयकर्ता अपने–अपने क्षेत्र की बिक्री के पूर्वानुमान लगाते हैं एवं इसको अपने क्षेत्रीय प्रबन्धक के पास भेजते हैं। इन पूर्वानुमानों का औचित्य यह होता है कि विक्रयकर्ता ग्राहकों के अधिक से अधिक निकट सम्पर्क में होते हैं,इसलिए इनको बाजार का सबसे अच्छा ज्ञान होता हैं। समस्त विक्रयकताओं से प्राप्त अनुमानों का पुनः निरीक्षण करके अनेक सुझावों को ध्यान में रखकर कुछ विशिष्ट तत्वों के सन्दर्भ मे देखा जाता है। जैसे वस्तु की किस्म,विज्ञापन,वस्तु का प्रस्तावित मूल्य आदि। इन विशेष तत्वों को ध्यान में रखकर पूर्वानुमानों को अन्तिम रूप दिया जता है। इन पूर्वानुमानों में समस्त विक्रयकर्ताओं,क्षेत्रीय प्रबन्धकों, विक्रय प्रबन्धकों,उत्पादन प्रबन्धकों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की सामूहिक राय से पूर्वानुमान लगाये जाते हैं।

इस विधि के निम्न गुण–दोष हैंः

गुण–(i)यह विधि सस्ती है।

(ii)पूर्वानुमान वास्तविकता के अधिक निकट होते हैं।

(iii)यह विधि नवीन वस्तुओं के लिए भी ठीक है।

दोश– (i)यह विधि दीर्घकालीन पूर्वानुमानों के लिए उपयुक्त नहीं है।

(ii)यह विधि पूर्णतया व्यक्तिपरक ैनइरमबजपअम)है। इसलिए सम्भव है कि विक्रयकर्ता अपने व्यक्तिगत उद्देश्य के लिए पूर्वानुमान कम या अधिक कर सकते हैं।

(iii)अनेक विक्रयकर्ता आर्थिक परिवर्तनों से अपरिचित होते हैं इसलिए गलत अनुमान लगाते हैं।

(3)खरीदने वालों के दृश्टिकोण का सर्वेक्षण (Buyers" opinion survey method)– यह विधि अल्पकालीन पूर्वानुमान लगाने की सर्वश्रेष्ठविधि मानी जाती है। इस विधि के अन्तर्गत क्रेताओं से सम्पर्क करके यह मालूम किया जाता है कि भविष्य में वह अमुक वस्तु की कितनी मात्रा क्रय करेंगे। समस्त क्रेताओं की माँग मात्रा का योग ही माँग का पूर्वानुमान है खरीदने वालों का सर्वेक्षण दो

प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम, समस्त क्रेताओं से सम्पर्क करके तथा द्वितीय नमूने के तौर पर सर्वेक्षण करके। अतः सदैव प्रतिचयन विधि

(Random samling) से पूर्वानुमान लगाया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत प्रतिचयन अथवा नमूने की त्रुटि (Sampling error) रहने का भय रहता है। इस विधि के अग्रलिखित गुण तथा दोष हैः

गुण–(i) यह विधि अल्पकालीन पूर्वानुमानों के लिए अधिक उपयोगी हैं।

(ii) यदि क्रेताओं की संख्या कम हो तो यह विधि अधिक उपयुक्त रहती है।

छोश–(i) दीर्घकालीन पूर्वानुमानों के लिए यह विधि अधिक उपयुक्त नहीं है

(ii)यदि संगणना सर्वेक्षण किया जावे तो उसमें अधिक समय, शक्ति तथा धन की आवश्यकता पड़ती है।

(iii) यदि दैव प्रतिचयन विधि (Random sampling) का उपयोग किया गया है तो इसमें प्रतिचयन त्रुटि (Samling error) रहती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत–निर्धारण

(Pricing under Perfect Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की विशेषताएँ (Salient Features of Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं:

(1)विक्रेताओं की अधिक संख्या(Large Number)–एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत विक्रेताओं या फर्मों की संख्या अधिक होती है। प्रत्येक विक्रेता का वस्तु की कुल पूर्ति में महत्वपूर्ण योगदान नहीं हेाता है। इसके परिणामस्वरूप अकेला विक्रेता वस्तु की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता। प्रत्येक फर्म एक–दूसरी से स्वतन्त्र होती है तथा उसे अपनी प्रतियोगी फर्म का भय नहीं रहता है। इस प्रकार की स्थिति इस उद्योग–धन्धों में पायी जाती है जिनमें पैमाने की बचतें सीमित होती हैं, उत्पादन विधियॉ सरल एवं सस्ती होती हैं। फुटकर व्यापारी, जूता मरम्मत की दुकान, पेट्रोल स्टेशन,धुलाई की दुकान तथा सेवा उद्योग इस प्रकार के बाजार के अन्तर्गत पाये जाते हैं। यदि कोई फर्म उत्पादन मात्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन करती है तो इससे दूसरी फर्में प्रभावित नहीं होती हैं।

(2)वस्तु विभेद(Product Differentiation)– अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दूसरी विशेष ता वस्तु विभेद की होती है। सभी वस्तुऍ एक सी नहीं होती हैं। उनमें अन्तर पाया जाता है। ये वस्तुऍ एक–दूसरे की निकट–स्थानापन्न (Close substitute) होती हैं, लेकिन पूर्ण–स्थानापन्न नहीं होती हैं। वस्तु–विभेद कई रूपों में देखने को मिलता है,जैसे–डेनमार्क, पैकिंग में भिन्नता,रंग तथा रूप में अन्तर, डिजायन में अन्तर,विक्रेता की ख्याति, विक्रय स्थल का निकट होना, ग्राहक की साख सुविधायें, वस्तु की मरम्मत,खराब होने पर वस्तु की वापसी, वस्तु को क्रेता के घर पहॅुचाना, विज्ञापन एवं अन्य विक्रय–कलाओं का उपयोग, कच्चे माल की किस्म में अन्तर। इन अन्तरों के कारण ग्राहक वस्तु में भेद करने लगता है तथा एक अमुक वस्तु के उपभोग से उसका लगाव हो जाता है जिससे सम्बन्धित वस्तु के विक्रेता की स्थिति एकाधिकारी जैसी हेा जाती है।

(3)उद्योग में फर्मों के प्रवेश एवं बहिर्गमन की स्वतन्त्रता(Free Entry and Exit of Firms in Industry)– एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म का आकार छोटा हेात है तथा निकट के स्थानापन्न की वस्तु का उत्पादन करती है। वे उत्पादन सम्बन्धी निर्णय स्वतन्त्र रूप से लेती हैं। ऐसी स्थिति में लाभ होने पर दीर्घकाल में नई फर्मे उद्योग में प्रवेश करने तथा हानि होने पर उद्योग का बहिर्गमन करने की पूरानी फर्मों को छूट होती है जिसके फलस्वरूप अल्पकाल में चाहे फर्म लाभ,हानि एवं सामान्य लाभ में से किसी भी स्थिति में हो सकती है लेकिन दीर्घकाल में इस विशेष ता के कारण प्रत्येक फर्म को सामान्य लाभ (छवतउंस च्तवपिज) ही प्राप्त होता है।

(4)गैर–मूल्य प्रतिस्पर्द्धा (Non-Price Competition)–एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत विक्रेताओं में मूल्य–स्पर्धा न होकर गैर–मूल्य प्रतिस्पर्धा रहती है फर्म प्रत्येक द्वारा निकट की स्थानापन्न वस्तु का उत्पादन करने के कारण अपने ब्राण्ड एवं ट्रेडमार्क की सहायता से वस्तु का प्रखर एवं विज्ञापन करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि अन्य वस्तुओं की तुलना में हमारी वस्तु सस्ती, टिकाऊ एवं श्रेष्ठहै। इसके लिए प्रत्येक फर्म विज्ञापन एवं विक्रय–कलाओं (Advertisement and Sells Tanctics) का सहारा लेते है जिससे ग्राहको पर इनका प्रभाव पड़ता है और वे किसी वस्तु के विशिष्ट ब्राण्ड एवं ट्रेडमार्क वाली वस्तु का ही उपभोग करना शुरू कर देते हैं। इससे भविष्य में उस विशिष्ट वस्तु के ग्राहक दूसरे ब्राण्ड एवं ट्रेडमार्क वाली वस्तु से भिन्न होते हैं।

(5)फर्म का लोचदार माँग वक्र (Highly Elastic Demand Curve of the Firm)–एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति पूर्ण प्रतियोगिता तथा विशुद्ध एकाधिकारी के बीच की होती है। अतः इसका माँग वक्र न तो पूर्णतया लोचदार होता है और न बेलोचदार बल्कि यह अधिक लोचदार होता है। फर्म को अधिक मात्रा में वस्तु बेचने के लिए वस्तु का मूल्य घटाना पड़ता हैं। लेकिन इसके साथ यह आवश्यक होगा कि कही प्रतियोगी फर्मे भी मूल्य में कमी न कर दें। यदि ऐसा अन्य फर्में कर देती हैं तो फर्म द्वारा क्रय मूल्य करने पर भी अपनी बिक्री बढ़ा पाना सम्भव नहीं होगा। विक्रेता का मूल्य पर अपेक्षाकृत कम अधिकार होता है। वस्तु का माँग वक्र ढालू हेाता है जो यह स्पष्टकरता है कि कम मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा बेची जा सकती है।

(6)दीर्घकाल में सामान्य लाभ(Normal Profit in the Long-Run)–इस बाजार के अन्तर्गत दीर्घकाल में सभी फर्मों को सामान्य लाभ प्राप्त होता है क्योंकि उद्योग में फर्मों के प्रवेश एवं बहिर्गमन की स्वतन्त्रता होने के कारण लाभ तथा हानि की स्थितियॉ समाप्त होकर सामान्य लाभ में बदल जाती हैं।

अल्पकाल में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत कीमत एवं उत्पादन निर्धारण(Price and Output Determination under Monopolistic Competition in the Short-Run)–पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा एवं एकाधिकारी की तरह एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा अथव अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म का अल्पकालीन साम्य उत्पादन व विक्रय की उस मात्रा पर हाता है जिस पर वस्तु की सीमान्त आगम (MR)और सीमान्त लागत (MC) बराबर हों। अल्पकाल समय की छोटी अवधि होती है जिसके अन्तर्गत फर्म अपनी उत्पादन क्षमता को माँग के अनुसार समायोजित नहीं कर पाती है। वह केवल दी हुई उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग करके पूर्ति में वृद्धि कर सकती है जो माँग के अनुरूप नहीं हो पाती है। अतः अल्पकाल में एक फर्म को लाभ, हानि तथा सामान्य लाभ इन तीनों में से किसी भी स्थिति का सामना करना पड़ सकता है। यदि वस्तु की अधिक माँग है और बाजार में उसका कोई निकट का स्थानापन्न (Close substitute) नहीं है तो फर्म ऊॅची कीमत रखकर लाभे कमा सकती है,यदि वस्तु की माँग बहुत कमजोर है तो फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होगा तथा यदि वस्तु की माँग बहुत अधिक कमजोर है तो फर्म को हानि उठानी पड़ सकती है। अब हम अल्पकाल में इन तीनों ही स्थितियों का अध्ययन करेंगे।

एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत–निर्धारण

(Price Determination under Monopoly)

8.1 परिचय

जब बाजार में किसी वस्तु का एक ही विक्रेता हो साथ ही पूरे बाजार में वस्तु की मांग हो तो वह उस वस्तु का उस स्थान पर एकाधिकार कहलाता है।

8.2 एकाधिकार की परिभाषा (Definition of Monopoly) एवं विशेषताएं

एकाधिकार की परिभाषा (Definition of Monopoly)–अंग्रेजी भाषा का Monopoly शब्द की अक्षरों से बना है–(Mono) तथा (poly)A(Mono) से आशय एक जबकि Poly से आशय बेचना है। अतः जब बाजार में किसी वस्तु का एक ही विक्रेता हो तब वह एकाधिकार कहलाता है। तकनीकी रूप में विशुद्ध अथवा पूर्ण एकाधिकार से आशय उन एकाकी फर्म–उद्योग से है जहॉ पर फर्म की वस्तु एवं बाजार में बेची जाने वाली अन्य वस्तुओं के बीच माँग की पूर्ति लोच शून्य होती है।

प्रो.मार्शल. के अनुसार''प्रथम दृष्टया एकाधिकारी का स्वार्थ उसे यह अधिप्रेरित करता है कि वह पूर्ति की मांग के प्रति इस ढंग से समायोजित न करे कि जिस कीमत पर वह अपनी वस्तु को बेच सकता है वह केवल उसकी उत्पादन लागत को ही पुरा करती है उसे तो पूर्वि को माँग के साथ दस प्रकार समायोजित करना चाहिए कि उसको अधिकतम कुल विशुध्द आगम प्राप्त हो सके.

प्रो. वाटसन. के शब्दो में एक एकाधिकारी एक वस्तु का अकेला उत्पादक होता है जिसका निकट का कोई स्थानापन्न नहीं होता एक उघोग के उत्पादन में पूर्णतया अथवा निकट के स्थानापन्न होते है उद्योग में एकाधिकारी केवल एक उत्पादक होता है फर्म और उद्योग एक ही होते है.

एकाधिकारी की विशेषताएँ

(Characteristic Of Monoply)

उपर्युक्त परीभाषाओं के आधार पर एकाधिकारी बाजार की निमन विशेषताएँ परिलक्षित होती है.

1. एकाकी विक्रेता अथवा उत्पादक (single seller or producer)एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु का उत्पादन करने वाली केवल एक ही फर्म होती है ऐसी स्थिती में वस्तु का उत्पादक अथवा विक्रेता एक ही होता है अन्य उत्पादक एवं विक्रेताओं का अभाव पाया जाता है.
2. निकाट के स्थानापन्न न होना (no close substitiues) .एकाधिकारी बाजार में ऐसी वस्तु का उत्पादन किया जाता है जिसके निकट के स्थानापन्ना बाजार में उपलब्ध नहीं होते है इससे विक्रेता की स्थिती ही एकाधिकारी जैसी हो जाती है.
3. उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश पर प्रभावी रोक effective check on the entry of new firms in Industry) एकाधिकारी के अन्तर्गत उल्पकाल एवं दीर्घकाल में फर्मों के प्रवेश पर प्रभावी प्रतिबन्ध लगाये जाते है एकाधिकारी की स्थिती होते विघमान रहता है जग फर्म उद्योग में प्रवेश न कर सके।
4. एक फर्म एक उद्योग one firm one industry) एकाधिकरी के अन्तर्गत एक फर्म एक उद्योग की स्थिती होती है फर्म और उद्योग एक दुसरे क पर्यायवाची होते हैं पूरे उद्योग में ऐसी वस्तु का उत्पादन करने वाली एक ही फर्म होती है।
5. बेलोचदार मॉग वक्र (inelastic demand curve) एकाधिकारी मे वस्तु का मांग वक्र गेलोचदार होता है क्योंकि वस्तु की अधिक मात्रा बेचने के लिए विक्रेता को इसकि कीमत घटानी पड़ती है।
6. वस्तू की प्रति पर पूर्ण नियन्त्रण (complete control over the supply of commodity) एकाधिकारी बाजार में वस्तु का एक ही उत्पादक अथवा विक्रता होता हे वह वस्तु की प्रर्ति पर प्रर्ण नियन्त्रण रखता है ।
7. दीर्घकाल में असामान्य लाभ (Abnormal Profit In The Long Period) इस बाजार संरचना के अन्तर्गत अल्पकाल में फर्म को लाभ, हानि अथवा सामान्य लाभ तीनों सिथतीयॉ

हो सकती हैं । लेकिन दीर्घकाल में उद्योग में नई फमों के प्रवेश पर रोक, पूर्ति पर नियन्त्रण तथा वस्तु का निकट का स्थानापन्न न होने के कारण फर्म को लाभ प्राप्त होता है ।

8. **असंख्य क्रेता** (a large number of byers) एकाधिकारी के अन्तर्गत वस्तु का एक ही विक्रेता होता है लेकिन इसके क्रेताओं की संख्या पूर्ण प्रतियोगित तथा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की तरह अधिक होती है।

एकाधिकार उत्पन्न होने के कारण

(cause of emergency of monopoly)

सामान्यतया एकाधिकार शक्ति वस्तु की पूर्ति के नियन्त्रण में निहित है । एकाधिकारी अपनी वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रखते हुए इसकि कीमत ऊँची रख सकता है वह केवल किसी प्रकार अपने प्रतिस्पर्धियों को उत्पन्न नहीं होने देता तथा वस्तु के उत्पादन का केवल एक मात्र विक्रेंता अथवा उत्पादक बना रहता है, एक विचारणीय बिन्दु है । वह एकाधिकारी स्थिती को बनाये रखने में सफल होत जाता है । एकाधिकार उत्पनन्न होने के निम्नलिखित कारण हैं।

1. **कच्चे माल के स्वामित्व का केन्द्रीयकरण (concentration of ownership of raw material)** जब वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक कच्चे माल का स्वामित्व किसी एक र्म के पास संकेन्द्रित हो जाता है तो एकाधिकार शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उद्योग में नई फर्मो का प्रवेश अवरूध्द कर दिया जाता है । खनिज एवं वन पदार्थो का स्वामित्व एक फर्म के हाथ में होने पर अधिकार पनप जाता है।
2. **कानूनी संरक्षण (Legal Protection)** कुछ फर्मो को कानूनी संरक्षण प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ पेटेन्ट प्राप्त कर लेना तथा पेटेन्ट कई वर्शो तक चलता रहता है । इससे फर्म इस पेटेन्ट के अन्तर्गत जिस वस्तु का उत्पादन करती है, दूसरी फर्म ऐसा उत्पादन नहीं कर सकती है । पेर्टेन्ट, ट्रेडामार्क आदि ऐसे वैधनिक संरक्षण हैं जिससे फर्म में एकाधिकारी प्रवृती को प्रोत्साहन मिलता है।
3. **सरकारी नियमन(dtate (state regulation)** सरकारी वैधनिक नियमन के कारण भी एकाधिकारी की प्रवृति को प्रोत्साहन मिलता है। जब सरकार एवं एक व्यवसायी के बीच

प्रसंविदा हो जाती है तो वह व्यवसायी एक एकाधिकारी शक्ति प्राप्त करने में सफल हो जाता है ।

उदाहरण उचित मूल्य की दुकान द्वारा चीनी एवं मिटटी के तेल का वितरण उस क्षेत्र विशेष में एकाधिकारी शक्ति को प्रोत्साहन देता है । यह प्रवृति सरकारी नीती के परिणा मस्वरूप उत्पन्न होती है ।

4. **जनोपयोगी सेवायें (Public Utility Services)** जनोपयोगी सेवाएँ जैसे विघुत,गैस रेल परिवहन तथा संचार सुविधाएँ आदि की पूर्ति सरकार व्दारा ही की जाती है। अन्य स्त्रोंतों से इनकी पूर्ति नहीं की जाती है । अत ; सरकार धीरे–धीरे इनकी पूर्ति एवं कीमत को नियन्त्रित करती है।
5. **गला काट प्रतिस्पवर्धा (cut throat competition)** पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कई बार एक उत्पादक अत्यधिक गलाकाट आक्रमक प्रतिस्पर्धा के माध्यम से अपने प्रतियोगियों को बाजार से समाप्त कर देती है तथा नये प्रतियोगियों का प्रवेश रोक सकती है । इस तरह की प्रतिस्पर्धा में अनेक अनैतिक या गलत तरीके भी अपनाये जाते हैं जिससे विधामान प्रतियोगी फर्मों को समाप्त करके एकाधिकार उत्पन्न किया जाता है ।
6. **संयोग (comibination)** वर्तमान युग में अनेक प्रतियोगी फर्मे अपने स्वहित की रक्षा के लिए स्वेच्छा से प्रतिस्पर्धा समाप्त करने के लिए एक मत हो जाती है तथा अनेक तरह के व्यावसायिक संयोगो के माध्यम से एकाधिकारी की स्थिती प्राप्त कर लेती है ।
7. **व्यकितगत आय (Personal Skill)**कुछ पेशे के क्षेत्रौ में व्यकितगत गुणों के महत्व के कारण एकाधिकार की शक्ति प्राप्त हो जाती है जैसे एक चार्टर्ड उकाउन्टेन्ट, वकील एकटर अथवा डाक्टर अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण अपने–अपने पेशे के क्षेत्रों में एकाधिकारी बन जाते है।

एकाधिकार में मूल्य व उत्पादन निर्धारण की विधियॉ

(Methods of determination of pric and output under monoploy)

सामान्यतया एकाधिकार में मूल्य तथा उत्पादन निर्धारिण की निम्न दी विधियॉ हैं–

I कुल आगम तथा कुल लागत विधि

II सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत विधि

सर्वप्रथम हम प्रथम विधि का विस्तार से वर्णन करेंगे तथा तत्पश्चात द्वितीय विधि का वर्णन करेंगे।

I कुल आगम तथा कुल लागत विधि (Total Revenue and Total cost Method)–इस विधि का दूसरा नाम मार्शल की गलती तथा सुधार विधि भी है। जैसा कि हम जानते हैं कि एकाधिकारी फर्म का प्रमुख उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है, अतः इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह अपनी वस्तु या सेवा का इतनी मात्रा में उत्पादन तथा विक्रय करेगा जिससे उसकी कुल आगम (ज्वजंस त्मअमदनम)एवं कुल लागत (ज्वजंस बवेज) के मध्य अधिकतम दूरी हो।

II सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत विधि (Marginal Revenue and Marginal cost method)–आधुनिक अर्थशास्त्री कुल आगम तथा कुल लागत विधि को अच्छा नहीं समझते हैं इनके विचार में सीमान्त आगत तथा सीमान्त लागत विधि ज्यादा ठीक है। इस विधि में अल्पकाल तथा दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण का पृथक–पृथक अध्ययन होता है। हम सर्वप्रथम अल्पकाल में एकाधिकारी की साम्यावस्था का अध्ययन करेंगे।

अल्पकाल में एकाधिकारी की साम्यावस्था

(Equilibrium of Monopolist in the short Period)

एकाधिकारी फर्म उस उत्पादन स्तर पर साम्यावस्था को प्राप्त होती है जहॉ इसकी सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर होती है। इस उत्पादन स्तर पर फर्म अपने लाभ को अधिकतम अथवा हानि को न्यूनतम करती है। अल्पकाल में समय इतना थोड़ा होता है कि फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग में वृद्धि या कमी होने पर पूर्ति में वृद्धि या कमी दी हुई उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग करके ही की जा सकती है। उत्पादन पैमाना तथा संयन्त्र के आकार में परिवर्तन सम्भव नहीं होता है। परिवर्तनशील साधनों में वृद्धि या कमी की जा सकती है। स्थिर साधन बदले नहीं जा सकते। अल्पकाल में एकाधिकारी कीमत औसत लागत से अधिक, कम तथा इसके बराबर हो

सकती है। जिसके परिणामस्वरूप तीन स्थितियॉ हो जाती है। 1 लाभ की स्थिति 2 हानि की स्थिति 3 सामान्य लाभ की स्थिति।

दीर्घकाल में एकाधिकारी की साम्यावस्था

(Equilibrium of Monopolist in the long Period)

एकाधिकारी में फर्म अपने संयन्त्र तथा उत्पादन के पैमाने को बदल सकती है तथा सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि समय पर्याप्त होता है। एक फर्म–एक उद्योग, उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश पर रोक, निकट की स्थानापन्न वस्तु का न होना तथा कीमत एवं पूर्ति पर नियन्त्रण आदि विशेष ताओं के कारण एकाधिकारी फर्म को दीर्घकाल में लाभ प्राप्त होता है। वस्तु की माँग बढ़ने पर इसकी पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है तथा माँग घटने पर संयन्त्र का आकार छोटा करके वस्तु की पूर्ति घटायी जा सकती है। प्रत्येक एकाधिकारी फर्म की विशेष ताओं के कारण दीर्घकाल में लाभ की स्थिति होगी।

विभेदात्मक एकाधिकार

(Determination Monopoly)

विभेदात्मक एकाधिकार की परिभाषा (Definition of Discriminating Monopoly)–विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभेदात्मक एकाधिकार की भिन्न–भिन्न परिभाषाये दी हैं जिनमें कुछ मुख्य परिभाषाऍ हैं–

प्रो.वाटसन के अनुसार,''सामान्य रूप में विभेदात्मक एकाधिकार से आशय एक फर्म द्वारा एक ही समय में एक ही वस्तु की दो या अधिक कीमतें वसूल करने से है। इससे यह आशय हो सकता है कि एक फर्म के उत्पादन मूल्य इसकी उत्पादन लागत से अधिक होते हैं।''

प्रो.स्टोनियर एवं प्रो.हेग के शब्दों में, ''विभेदात्मक एकाधिकार अथवा मूल्य विभेद उस समय होता है जब एक एकाधिकारी एक वस्तु की विभिन्न इकाईयों की विभिन्न कीमतें वसूल करता है, जबकि ये इकाइयॉ समरूप भौमिक लक्षणों वाली होती हैं।

विभेदात्मक एकाधिकार की आवश्यक शर्तें

(Necessary Conditions for Determination Monopoly)

विभेदात्मक एकाधिकार 'एकाधिकार' का ही एक व्यापक स्वरूप है। इसके लिए निम्न आवश्यक शर्तें हैं:–

(1)एकाधिकार स्थिति (Monopoly Position)–मूल्य–विभेद के लिए आवश्यक है कि वस्तु की विक्रेता एक ही हो और उसकी स्थिति एक एकाधिकारी की होनी चाहिए।

(2)पृथक बाजार (Separete Market)–विभेदात्मक एकाधिकारी के लिए आवश्यक है कि वस्तु की बिक्री वाले बाजार अलग–अलग होने चाहिए तथा उनमें किसी तरह का कोई सम्पर्क नहीं होना चाहिए जिससे कि क्रेता सस्ते मूल्य वाले बाजार से क्रय की गई वस्तु को महँगे मूल्य वाले बाजार में न बेच सके। बाजारों की पृथकता निम्न रूपों में देखी जा सकती है:

(प)उपभोक्ताओं की रूचियों तथा अधिमानों में अन्तर–जब क्रेता किसी ऊँची कीमत वाली वस्तु को श्रेष्ठवस्तु समझने लगते हैं तथा उन्हें वस्तु की कीमत की पूर्ण जानकारी भी नहीं होती है तो मूल्य विभेद सम्भव होता है। कई बार वस्तु के मूल्य में अन्तर बहुत कम होता है और उपभोक्ता इस अन्तर पर कोई ध्यान नहीं देता।

(ii)वस्तु तथा सेवा की प्रकृति में अन्तर–वस्तु या सेवा की प्रकृति ऐसी हो कि इसका हस्तान्तरण सम्भव नहीं हो तो मूल्य विभेद सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर एवं वकील की सेवा का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है।

(iii)उपभोक्ता की क्रय शक्ति में अन्तर–क्रय शक्ति में अन्तर के कारण भी मूल्य–विभेद सम्भव होता है। धनी व्यक्ति से ऊँची तथा निर्धन वर्ग से नीची फीस डॉक्टर द्वारा वसूल करना इसी का एक उदाहरण है।

(iv)उपभोक्ता की अज्ञानता–जब उपभोक्ता किसी विक्रेता की एक ही सेवा का विभिन्न तरह के प्रयोगों में लाते हैं तब भी एकाधिकारी मूल्य विभेद कर सकता है उदाहरणार्थ भारतीय रेल की सेवाएँ विभिन्न वस्तुओं के परिवहन के लिए प्रयुक्त होती है तो भारतीय रेल विभाग विभिन्न वस्तुओं के लिए

किराये की अलग–अलग दर लेती है। उदारहणार्थ कोयला की ढूलाई दर सोने की ढुलाई दर से बहुत कम होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सोने को कोयले में परिवर्तित नहीं कर सकता है, अतः मूल्य विभेद सम्भव है।

(v)भौगोलिक दूरी तथा प्रशुल्क दीवारें–भौगोलिक दूरी और प्रशुल्क प्रतिबन्धों (Geographical distances & Tariff wall) के कारण भी बाजार पृथक हो जाते हैं और एकाधिकारी द्वारा मूल्य–विभेद की नीति अपना ली जाती है।

(vi)कानूनी स्वीकृति–सरकारी नियमन के कारण भी एकाधिकारी एक ही वस्तु को अलग–अलग मूल्यो पर बेचता है जिससे मूल्य विभेद होता है। उदाहरणार्थ,राज्य विद्युत मण्डल द्वारा बिजली का प्रति इकाई मूल्य कृशि,उद्योग तथा घरेलू उपयोग के लिए अलग–अलग वसूल की जाती है।

(vii)आदेश पर विक्रय–आदेश पर विक्रय (Sale on ofders) के अन्तर्गत एक विक्रेता क्रेता से अलग कीमत वसूल करता है जिससे मूल्य–विभेद हेाता है।

(3)माँग की लोच में भिन्नता (Defference in Elasticity of Demand)–मूल्य विभेद की नीति के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की माँग की लोच दोनें बाजारों में अलग–अलग हो। जिस बाजार में वस्तु की माँग की लोच बेलोचदार या कम लोचदार है वहॉ एकाधिकारी वस्तु की ऊँची कीमत वसूल करता है तथा जिस बाजार में वस्तू की माँग की लोच अधिक लोचदार है वहॉ वस्तु की कम कीमत वसूल की जाती है। ऐसी नीति का पालन करने पर ही एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम कर सकता हैं।

मूल्य विभेद के प्रकार

(Types of Price Descrimination)

मूल्य–विभेद के निम्न रूप अथवा प्रकार हो सकते हैः–

(1)व्यक्तिगत मूल्य विभेद (Personal price Discrimination)–जब एकाधिकारी अपनी वस्तु की अलग–अलग ग्राहकों से अलग–अलग कीमतें वसूल करता है तो इसे व्यक्तिगत मूल्य–विभेद कहते

हैं। उदाहरणार्थ फर्म के कर्मचारियों, अंशधारियों का व्यक्तिगत सम्बन्धियों से वस्तु का कम मूल्य लिया जा सकता है।

(2)भौगोलिक मूल्य–विभेद (Gepgraphical price Descrimination)–जब भिन्न–भिन्न स्थानों पर वस्तु की भिन्न–भिन्न कीमतें ली जाती है तो उसे भौगोलिक मूल्य–विभेद कहा जाता है। विदेशी बाजार में राशि ली जाती है तो उसे भौगोलिक मूल्य–विभेद कहा जाता है विदेशी बाजार में राशि–पातन (क्नउचपदह) के उद्देश्य से नीची कीमत पर वस्तु बेवी जाती है लेकिन घरेलू बाजार में इस वस्तु की कीमत ऊॅची वसूल की जाती है।

(3)व्यवसाय एवं प्रयोग के अनुसार मूल्य–विभेद (Price Descrimination according to Trade and Use)–जब एकाधिकारी अपनी वस्तु या सेवा के प्रयोग अथवा व्यवसाय के आधार पर कीमत–विभेद करता है तो यह व्यवसाय एवं प्रयोग के अनुसार मूल्य–विभेद कहलाता है। उदाहरणार्थ राज्य विद्युत मण्डल द्वारा घरेलू,कृशि एवं उद्योग के उपयोग के लिए बिजली की अलग–अलग दरें वसूल की जाती है।

(4)वर्ग मूल्य विभेद (Class Price Descrimination)–जब एकाधिकारी अपनी वस्तु में थोड़ा बहुत अन्तर करके विभिन्न वर्ग के उपभोक्ताओं से अलग–अलग मूल्य वसूल करता है तो उसे वर्ग मूल्य–विभेद कहते हैं। जैसे रेलें बच्चों से आधा टिकट लेती हैं, विद्यार्थियोग को रियायतें देती हैं,

(5) समयानुसार मूल्य विभेद (Price Discrimination according to Time)–जब एकाधिकारी समय के अनुसार अपनी वस्तु या सेवाा की ग्राहकों से अलग–अलग किमतें लेता है तो वह समयानुसार मूल्य–विभेद कहलाता है। उदाहरणार्थ,डाक तार विभाग द्वारा ट्रंक काल की दरें दिन में ऊॅची तथा रात में नीची वसूल की जाती है।

(6)वस्तु की प्रकृति एवं आकार के अनुसार मूल्य–विभेद–वस्तु की प्रकृति एवं आकार के अनुसार भी मूल्य–विभेद किया जाता है। उदाहरणार्थ रेल्वे विभाग जलनशील व अधिक स्थान घेरने वाली वस्तुओं (रूई, तेल आदि) का ऊॅची दर से किराया लेता है। प्रकाशक द्वारा पुस्तक के सादा संस्करण की कीमत डीलक्स संस्करण की तुलना में कम वसूल करना भी इसी प्रकार का मूल्य–विभेद है।

(7)आयु,लिंग या पद के अनुसार मूल्य विभेद–एक एकाधिकारी आयु लिंग अथवा पद के आधार पर मूल्य विभेद कर सकता है। जैसे हेयर सेल्यून वाला बच्चों के बाल काटने के कम पैसे ले सकता है अथवा भारतीय रेल विद्यार्थियों से कम किराया ले सकती है।

(8)छूट देकर मूल्य–विभेद (Discount Price Discrimination)–जब एकाधिकारी अपने ग्राहकों की वस्तु या सेवा के मूल्य में छूट देकर कीमत अलग–अलग वसूल करता है तो यह छूट देकर मूल्य–विभेद कहलाता है। यह छूट वितरक छूट, रोकड़ छूट तथा मात्रात्मक छूट के रूप में हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक निश्चित मात्रा से अधिक माल खरीदने पर विशेष छूअ, फुटकर विक्रेता को छूट, नकद भूगतान पर छूट आदि।

खंड – 3
इकाई – 6

अल्पाधिकार

अध्ययन के उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 अल्पाधिकार की परिभाषा एवं विशेषताएं

9.3 अल्पाधिकार का वर्गीकरण

9.4 मूल्य निर्धारण

9.5 लागत धन मूल्य निर्धारण

9.6 बहुउत्पादन मूल्य निर्धारण

9.7 स्थानांतरण मूल्य निर्धारण

अभ्यास प्रश्न

अल्पाधिकार

(**Oligopoly**)

9.2 अल्पाधिकार की परिभाषा (Definition of Oligopoly) एवं विशेषताएं

अल्पाधिकार की परिभाषा (Definition of Oligopoly)–अल्पाधिकार की अनेक विद्वानों ने परिभाषायें दी हैं जिनमें कुछ महत्वपूर्ण हैं–

प्रो.लेफ्टविचके अनुसार,''बाजार की वे दशाएँ अल्पाधिकार कहलाती हैं, जिनमें थोड़ी संख्या में इतने से विक्रेता पाये जाते हैं कि एक सी कियाएँ दूसरों के लिए महत्वपूर्ण होती हैं।''

प्रो.स्टिगलरके शब्दों में, ''अल्पाधिकार वह परिस्थिति होती है जिसमें कोई फर्म अपनी बाजार–नीति कुछ निकट प्रतियोगियों के प्रत्याशित व्यवहार पर स्थापित करती है।''

अल्पाधिकार की विशेषताएँ

(Featurs of Oligopoly)

(1)विक्रेताओं की संख्या बहुत कम होती है–इस स्थिति में विक्रेता अथवा सेवा प्रदाताओं की संख्या बहुत कम होती है। इस कम संख्या का अर्थ यह है कि प्रत्येक अत्पादक अथवा विक्रेता या सेवा प्रदाता बाजार की कुल पूर्ति का एक बहुत बड़ा भाग नियन्त्रित करता है तथा यह विक्रेता अपने क्रिया–कलापों द्वारा अन्य उसी उद्योगों के विक्रेताओं की गतिविधियों को प्रभावित करते हैं।

(2)उत्पादन अथवा सेवा कार्य में लगी हुई फर्में एक दूसरे पर बहुत अधिक मात्रा में परस्पर निर्भर हैं–बाजार की इस स्थिति में उत्पादन या सेवा कार्य में लगी हुई फर्में एक दूसरे पर बहुत अधिक मात्रा में निर्भर रहती हैं। अतः बाजार की इस स्थिति में एक उत्पादक अथवा सेवा प्रदाता की नीतियॉ दूसरे उत्पादक अथवा सेवा प्रदाता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, क्योंकि बाजार की इस स्थिति में विभिन्न उत्पादकों का उत्पाद निकट स्थानापन्न वस्तुएॅ होती है। अतः एक उत्पादक अथवा सेवा प्रदाता की मूल्य नीतियों का अध्ययन अन्य उत्पादकों द्वारा किया जाता है तथा अन्य उत्पादक दूसरे उत्पादकों की नीतियों को विफल करने के लिए अपनी नई नीति लागू करने का प्रयास करते हैं।

(3)अल्पाधिकारी फर्म का माँग वक्र अनिश्चित होता है–बाजार की इस स्थिति में एक फर्म का माँग वक्र एकदम अनिश्चित हेाता है, क्योंकि बाजार की इस स्थिति में प्रत्येक फर्म का व्यवहार न तो स्वतन्त्र ही रह माता है तथा न ही निश्चित होता है,क्योंकि उसका व्यवहार अन्य फर्म के आचरण पर निर्भर करता है। अतः हम फर्म के सही–सही माँग वक्र का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

(4)बाजार में फर्म के प्रवेश व बहिर्गमन में कठिनाई आती है–बाजार की इस दशा में नई फर्म के बाजार में प्रवेश लेने में पेटेन्ट राइट्स, ट्रेड मार्क्स आदि के कारण बहुत परेशानी आती है। इसी तरह

से विद्यमान फर्मो द्वारा स्थाई सम्पत्तियों में अत्यधिक विनियोग के कारण वे बाजार से बाहर जाने में कठिनाई अनुभव करती हैं।

(5)प्रतियोगिता–बाजार की इस दशा में विद्यमान सभी फर्मों में आपस में कड़ी प्रतियागिता बनी रहती है।

(6)अत्यधिक विज्ञापन तथा विक्रय संवर्द्धन लागतें–बाजार की इस दशा में विज्ञापन तथा विक्रय संवर्द्धन पर बहुत अधिक धन व्यय होता है। यदि कोई फर्म विज्ञापन तथा विक्रय संवर्द्धन पर धन व्यय करना बन्द कर दे तथा अन्य फर्में व्यय करती रहे तो कुछ समय पश्चात् इस फर्म का हिस्सा बाजार में बहुत कम रह जायेगा। अतः जब एक फर्म विज्ञापन करती है तो दूसरी फर्मों को भी अपने बाजार भाग को बनाये रखने के लिए विज्ञापन करना पड़ता है।

(7)प्रमाणित या विभेदात्मक वस्तुएँ तथा सेवाएँ–बाजार की इस स्थिति में फर्मे समरूप प्रमापित वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय कर सकती हैं अथवा विभेदित वस्तु या सेवा का विक्रय कर सकती हैं। जब फर्में समरूप वस्तु या सेवा का उत्पादन करती है तो बाजार की इस दशा को विशुद्ध अल्पाधिकार कहते हैं। इसके विपरित जब फर्में विभेदित वस्तु का उत्पादन करती हैं तो विभेदित अल्पाधिकार कहते हैं।

अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण

(Price Determination under Oligopoly)

अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण का विश्लेषण आसान नहीं है जैसा कि प्रो. लेफ्टविच ने कहा है,''अल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमत व उत्पत्ति–निर्धारण का विश्लेषण उतना स्पष्टव सुनिश्चित नहीं होता जितने शुद्ध प्रतियोगिता व एकाधिकार में होता है। ऐसा अंशतः तो अल्पाधिकार अनिश्चितता **(Oligopolistic Uncertainty)**की वजह से होता है– अनेक बार एक अल्पाधिकारी को इस बात की निश्चित जानकारी नहीं होती कि उसकी विभिन्न किस्म की क्रियाओं से उसके प्रतिस्पर्धीयोग पर क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी और अंशतः इस वजह से होता है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत कई प्रकार की स्थितियॉ पाई जाती ई जिनमें प्रत्येक के अपने विशेष लक्षण होते हैं।

अल्पाधिकार का सामान्य सिद्धान्त न तो इस समय विद्यमान है और न निकट भविष्य में ही इसके हो सकने की कोई सम्भावना प्रतीत होती हैं।''

अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण की निम्न तीन दशायें प्रमुख हैं:

(1)स्वतन्त्र मूल्य–निर्धारण (**Independent Pricing**)

(2)गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण (**Pricing Under Collusion**)

(3)मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण (**Pricing Under Price Leadership**)

(1)स्वतन्त्र मूल्य–निर्धारण (Independent pricing)–इसके अन्तर्गत अल्पाधिकारी उद्योग की प्रत्येक फर्म द्वारा अपनी स्वतन्त्र मूल्य और उत्पादन नीति अपनायी जाती है।प्रत्येक विक्रेता द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्धारित कीमत अल्पाधिकार कीमत होगी, यदि उत्पादन एक दूसरे विक्रेता से भिन्न है। दूसरी ओर सभी फर्मो द्वारा समरूप उत्पादन करने पर अल्पाधिकार उद्योग में स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण से वस्तु की एक–सी कीमत होगी। यह उसी स्थिति में होगा जब कभी फर्मों के बीच बाजार बॅटा हुआ हेा तथा लागत वस्तु भी समान हो। व्यवहार में फर्मे समरूप उत्पादन नहीं करती हैं। फर्मों का माँग वक्र निश्चित नहीं होता है। इसके परिणामस्वरूप अनिश्चितता उत्पन्न हो जायेंगी। प्रथम, फर्मों में आपस में मूल्य युद्ध छिड़ सकता है तथा किमतों में अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है। द्वितीय, प्रतिद्वन्द्विता की कीमत स्थिर रह सकती है और यह स्तर अनिश्चित हो सकता हैता है। तृतीय,एक निश्चित स्तर पर कीमत होने पर वे कीमत में परिवर्तन करने के लिये मना कर सकते हैं। अनिश्चितता को न्यूनतम करने हेतु इस नीति का अनुसरण किया जाता है। अल्पाधिकारी फर्मे चालू कीमत को स्वीकार कर सकती हैं तथा इस कीमत पर बिक्री तथा लाभ से सन्तुश्ट हो सकती हैं। इससे कीमत दृढ़ता (च्तपबम त्पहपकपजल) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि दीर्घकाल तक अल्पाधिकार के अन्तर्गत स्वतन्त्र मूल्य नीति चल नहीं सकती है। इससे अनिश्चितता,असुरक्षा तथा प्रतिद्वन्द्विता पनपने में वृद्धि तथा लागत को कम करने का प्रयास करती हैं और जहॉ तक सम्भव हो बाजार के एक बड़े भाग पर कब्जा करने का प्रयास किया जाता है। एक बड़ी फर्म या तो मूल्य नेतृत्व की नीति अनुसरण करती है अथवा छोटी–छोटी फर्मों को प्रतिस्पर्धा एवं कीमत युद्ध करके कमजोर कर देती है। इस प्रकार

अल्पाधिकार में स्वतन्त्र कीमत निर्धारण एकाधिकारात्मक कीमत एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक कीमत के बीच की सीमाओं में निर्धारित होगी। किंतु वास्तविक मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि बाजार में कैसी परिस्थितियॉ प्रचलित हैं।

(2)गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य–निर्धारण (Pricing Under Collusion)–स्वतन्त्र मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण से प्रतिस्पर्द्धा, अनिश्चितता तथा असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है। अर्थशास्त्र में गुटबन्दी से आशय प्रतियोगी फर्मों में आपस में कीमत एवं उत्पादन निर्धारण हेतू सहयोग करना है। यह गुटबन्दी फर्मों के समन्वय एवं सहयोग पर आधारित होता है। यह गुटबन्दी दो प्रकार की होती हैः 1 पूर्ण गुटबन्दी 2 अपूर्ण गुटबन्दी।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत–निर्धारण

(Pricing under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ–

(Features of Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1)असंख्य क्रेता एवं विक्रेता (Large Number of Buyers and Sellers)–पूर्ण प्रतियोगिता की प्रमुख विशेष ता यह है कि इस बाजार में क्रेता एवं विक्रेता असंख्य हेाते हैं। प्रत्येक क्रेता इतना कम क्रय करता है तथा प्रत्येक विक्रेता इतना कम विक्रय करता है कि न तो कोई क्रेता और न ही कोई विक्रेता बाजार कीमत को प्रभावित करने में सक्षम होता है। किसी भी क्रेता या विक्रेता का कोई भी कार्य बाजार–कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होता। केताओं एवं विक्रेताओं की असंख्य संख्या होने के परिणामस्वरूप बाजार कीमत उनके पक्ष में प्रभावित नहीं हो पाती है। इस बाजार के अन्तर्गत वस्तु की बाजार कीमत सभी क्रेता एवं विक्रेताओं की संयुक्त क्रियाओं (Combined actions)का परिणाम होती है। एक बार बाजार कीमत निर्धारित होने के पश्चात क्रेता एवं विक्रेता दोनों इसे स्वीकार कर लेते हैं। दोनों पक्ष ही इस कीमत पर क्रय–विक्रय सम्बन्धी मात्रा का समायोजन कर लेते हैं।

(2)समरूप उत्पादन (Homogeneous Product)–पूर्ण प्रतियोगी बाजार की दूसरी विशेष ता यह है कि विभिन्न विक्रेताओं तथा फर्मों द्वारा बेची जाने वाली वस्तु क्रेताओं की दृष्टि से समरूप अथवा एक–सी (Homogeneous or identical) होना चाहिए। विभिन्न फर्मों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुएँ क्रेताओं की दृद्यिट से एक–दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न (Perfect substitute shape) होती हैं अर्थात् वस्तुओं की प्रतिलोच (Cross elasticity) अनन्त (Infinite) होती है। चूँकि वस्तु समरूप हेाती है,अतः कोई भी विक्रेता प्रचलित बाजार से जरा भी अधिक कीमत वसूल नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो ग्राहक कम हो जायेंगे।

पूर्ण प्रतियोगिता की इन दोनों विशेष ताओं के कारण फर्म का औसत आगम वक्र (ARcurve)क्षितिजीय आकार (Horizontal Shape) का होता है। चूँकि बाजार में असंख्य विक्रेता अथवा फर्म कार्यशील होती हैं,अतः कोई एक विक्रेता अथवा फर्म कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होती। इसके अतिरिक्त चूँकि वस्तु समरूप होती है,इसलिए क्रेता एक फर्म की वस्तु को दूसरी फर्म की वस्तु से श्रेष्ठनहीं समझते हैं। इस विशेष ता के कारण बाजार में वस्तु एक ही कीमत पर उपलब्ध हो जाती है।

समरूप उत्पादन होने के कारण एक अकेला विक्रेता कीमत को स्वीकार करने वाला होता है। यह कीमत बाजार की माँग और पूर्ति शक्तियों से निर्धारित की गई है। सम्पूर्ण बाजार में एक–सी कीमत प्रचलित रहती है।

(3)प्रवेश एवं बहिगर्मन की स्वतन्त्रता (Freedom of Entry and Exit)–पूर्ण प्रतियोगिता की तीसरी विशेष ता यह है कि प्रत्येक फर्म उद्योग में प्रवेश करने तथा इसकी बर्हिगमन करने में पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। काई भी फर्म जब चाहे उद्योग में आ सकती है तथा जब चाहे उद्योग को छोड़कर जा सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अल्पकाल में एक व्यक्तिगत फर्म लाभ कमा रही है तो नई फर्मे उद्योग में आकर्शित होती हैं और इससे उद्योग का उत्पादन बढ़ने से बाजार पूर्ति वक्र दायीं ओर खिसक जायेगा। इससे साम्य मूल्य भी कम हो जायेगा; उद्योग में प्रवेश की स्वतन्त्रता से दीर्घकालीन कीमत दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर हेागी तथा फर्म सामान्य लाभ (P=LAC)कमायेगी।

दूसरी ओर अल्पकाल में फर्मों को हानि होती है तो उद्योग का बर्हिगमन करने की छूट होने से फर्में उद्योग को छोड़ देंगी जिससे उत्पादन कम होगा तथा कीमत बढ़ने से साम्य मूल्य बढ़कर दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर हो जायेंगा। फर्में सामान्य लाभ की स्थिति (P=LAC)पुनः प्राप्त कर लेंगी। उद्योग में फर्मों के प्रवेश एवं बर्गिमन की स्वतन्त्रता के परिणामस्वरूप दीर्घकाल में प्रत्येक प्रतिस्पर्धी फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा।

(4)बाजार दशाओं का पूर्ण ज्ञान(Perfect Knowledge of Market Conditions)–पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत क्रेता तथा विक्रेताओं को बाजार दशाओं की पूर्ण जानकारी होती हैं। चूँकि वस्तु के बारे में क्रेतागण पूर्ण जानकारी रखते हैं, अतः विक्रताओं अथवा फर्मो को वस्तु की बिक्री के लिए विभिन्न विक्रय कलाओं का सहारा नहीं लेना पड़ता है अर्थात् प्रचार एवं विज्ञापन व्यय नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार विक्रेताओं को भी बाजार दशाओं की पूर्ण जानकारी होती हैं। विभिन्न कीमतों पर होने वाली सम्भाव्य बिक्री (Porential Sale) का पूर्ण ज्ञान उन्हें हेाता है।

संसाधन स्वामियों (Resources owners) को भी अपने संसाधन की बाजार कीमत तथा साधन की सीमान्त उत्पादकता की पूर्ण जानकारी होती है। इससे साधन का पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर (Pf=Value of M.Pf.)हेाता है। पूर्ण ज्ञान से सभी आर्थिक इकाइयों, उपभोक्ताओं, विक्रेताओं तथा साधन स्वामित्वों का किसी प्रकार का शोषण होने की सम्भावना नहीं होती है।

(5)उत्पादन साधनों की पूर्ण गतिशीलता (Perfect Mobility of the Factors of Production)–पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में उत्पादन के साधनों की पूर्ण गतिशीलता आवश्यक है। इससे आशय यह है कि उत्पादन के साधनों को जिस उद्योग में अधिक पारिश्रमिक (Remuneratin)मिलता है उसमें जाने को स्वतन्त्र होते हैं। अतः निम्न पारिश्रमिक वाले व्यवसाय अथवा उद्योग उत्पादन के साधन अधिक पारिश्रमिक देने वाले उद्योग अथवा व्यवसाय में जाने को तत्पर रहते हैं। साधनों में भौगिकालिक, व्यावसायिक एवं एक कार्य से दूसरे कार्य में जाने की गतिशीलता पाई जाती है। साधनों में पूर्ण गतिशीलता के कारण साधन की कीमत व्यक्तिगत साधन पर निर्भर न करके सम्पूर्ण बाजार में साधन की कुल माँग और कुल पूर्ति पर निर्भर करती है अर्थात् साधन बाजार में भी पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है। इसके साथ ही ऐसी स्थिति में प्रत्येक फर्म

साधनों का अनुकुलतम उपयोग करती है। प्रत्येक साधन के स्वामी को अवसर लागत प्राप्त होने से प्रत्येक फर्म न्यूनतम लागत प्राप्त करती है।

(6)परिवहन लागतों का न होना (No Transport Costs)–पूर्ण प्रतियोगी बाजार का विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि इसके अन्तर्गत परिवहन लागतें नहीं होती हैं क्योंकि विभिन्न फर्मे एक दूसरे के बहूत समीप स्थित होती हैं। व्यवहार में दो वस्तुओं को तभी समरूप माना जता है जब उनका उत्पादन एक ही स्थान पर किया जाता है। यदि उनका उत्पादन अलग–अलग स्थानों पर किया जाा तो कीमतें भी भिन्न–भिन्न होतीं। कीमत की एकरूपता की शर्त पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत तभी पूरी हो सकती है जबकि हम यह भी मानतें हैं कि उत्पादन एक ही स्थान पर होता है तथा परिवहन लागतें उत्पन्न नहीं होती हैं।

(7)दीर्घकाल में सामान्य लाभ(Normal Profit in the Long Run)–जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टहै कि दीर्घकाल में एक प्रतिस्पर्धी फर्म सामान्य लाभ कमाती है। लागतें सामान्यतः सामान्य लाभ लागतों में सम्मिलित होती हैं। उद्योग में प्रवेश एवं बहिर्गमन की स्वतन्त्रता के कारण प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म स्वयं को इस प्रकार से बाजार की पूर्ति के साथ सामायोजित करती है कि दीर्घकाल मे उसकी औसत लागत उसकी कीमत के बराबर (P=LAC) हेा जाती है। दीर्घकाल में विशुद्ध लाभ नहीं होने के कारण फर्मों की संख्या भी इश्टतम होगी तथा अन्य फर्में उद्योग में आकर्शित नहीं होगी। इसके साथ ही उद्योग में विद्यमान फर्मो में भी बर्हिगमन करने की स्थिति नहीं होगी। प्रत्येक फर्म दीर्घकाल में न्यूनतम लागत पर उत्पादन करेगी अर्थात् अनुकुलतम संयन्त्र की स्थिति होगी और जहॉ कीमत दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर (P=LAC) होगी तब फर्म का विस्तार अथवा संकुचन की प्रेरणा नहीं मिलेगी।

(8)स्वतन्त्र निर्णयन (Independent Decision Making)–पूर्ण प्रतियोगिता की एक महत्वपूर्ण विशेष ता यह है कि व्यक्तिगत फर्म अपने निर्णय लेने में स्वतन्त्र होती है। कुल उत्पादन की मात्रा में एक व्यक्तिगत फर्म का योगदान बहुत छोटा होता है और उसके द्वारा किये गये कार्यों पर किसी द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्ति नहीं की जाती तथा उसे अनदेखा कर दिया जाता है। क्रेताओं को पूर्ण ज्ञान होने के कारण न तो कीमत में वृद्धि की जाती है न कमी की जाती है। वस्तु समरूप होने के कारण

प्रचार एवं विज्ञापन सम्बन्धी विक्रय कलाओं का सहारा लेना व्यर्थ होता है। फर्म दी हुई कीमत पर अपने लाभ को आधिकतम करने हेतू उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेने को स्वतन्त्र होती है।

फर्म के आकार के सिद्धान्त

(Theories of the Size of Firm)

एक औद्योगिक अथवा व्यावसायिक फर्म का प्रमुख उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करके अपने कुल लाभ को अधिकतम करना होता है। एक औद्योगिक फर्म का कुल लाभ तभी अधिकतम हो सकता है जब उस औद्योगिक अथवा व्यावसायिक फर्म का उत्पादन क्षमता का आकार अनुकुलतम हो। दुसरे शब्दों में, प्रत्येक कारखाने,व्यवसासय अथवा संयन्त्र की सफलता, कार्य–कुशलता तथा लाभप्रदता उसके आकार पर निर्भर करती है। अतः कारखाने, व्यवसाय अथवा संयन्त्र की स्थापना करते समय ही उसका आकार अनुकुलतम हो,यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। कारखाने अथवा फर्म का आकार उत्पादन के नियम तथा श्रम विभाजन के सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित होता है। उद्यम अथवा संस्था का आकार कितना वृहद् (बड़ा) हो,यह उपलब्ध पूँजी तथा प्रबन्धकीय क्षमता पर निर्भर करता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भ में फर्म का आकार छोटा रखा जाय लेकिन आकार छोटा रखते समय भी भावी विकास की सम्भावनाओं के लिए पर्याप्त क्षेत्र रखा जाना चाहिए।

अर्थ–साधारण शब्दों में आकार का अर्थ फर्म के कारोबार के पैमाने अथवा मात्रा से होता है। अर्थशास्त्र की भाशा में फर्म या संस्था के आकार में निम्न सम्मिलित हें–

1. उत्पादन की मात्रा।
2. पूँजी की मात्रा।
3. श्रमिकों की संख्या।
4. शक्ति के साधनों का प्रयोग।
5. उत्पादन का मूल्य।
6. प्रबन्धकीय जटिलता।
7. स्वचालित यंत्रों के प्रयोग की मात्रा।
8. स्रकार को देय उत्पादन शुल्क तथा कर की मात्रा।

फर्म या संस्था का आकार छोटा है अथवा बड़ा है यह एक सापेक्षिक तथ्य है तथा इसके कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं हैं। फर्म या संस्था का आकार अनुकुलतम उस समय कहा जाता है जब संस्था न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन से कुल अधिकतम लाभ प्राप्त कर रही है। दुसरे शब्दों में, अनुकुलतम आकार वह स्थिति है जहॉ उत्पादन के सभी घटकों का अनुकुलतम संयोग हो। आकार का अर्थ समझते समय फर्म,कारखाना तथा उद्योग शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है अतः अब कारखाना,फर्म तथा उद्योग का अर्थ जानना भी आवश्यक है–

1. कारखाना या प्लान्ट
2. संस्था या फर्म
3. उद्योग।

(a) **कारखाना या प्लान्ट**–कारखाना या संयन्त्र एक सामूहिक नाम है जो उत्पादन के विभिन्न साधनों व संयुक्त समूह के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आयरसन ने इसे निम्न प्रकार परिभाशित किया है,''वह कोई भी स्थान जहॉ उत्पादन के साधनों जैसे भूमि,श्रम,पूँजी,प्रबन्ध एवं साहस को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन के लिए एक साथ एकत्रित करके प्रयोग में लाया जाता है,प्लान्ट कहलाता है।''

(b) संस्था या फर्म–संस्था या फर्म कारखाना या प्लान्ट के स्वामित्व का बोध करती है अर्थात् संस्था या फर्म कारखाने या प्लान्ट का प्रबन्ध करती है, उसकी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखती है,उसकी वित व्यवस्था करती है तथा उत्पाद के विक्रय का प्रबन्ध कती है।

प्लान्ट एवं फर्म में अन्तर–प्लान्ट एक कार्यकारी इकाई है जबकि फर्म एक प्रशासनिक एवं नियन्त्रण इकाई है। एक फर्म के नियन्त्रण में एक से अधिक प्लान्ट या कारखाने हो सकते हैं इस तरह से फर्म एक व्यापक शब्द है। उदाहरणार्थ नेशनल टेक्सटाईल कॉरपोरेशन एक फर्म है, इसके नियन्त्रण में 110 से अधिक टेक्सटाइल कारखाने हैं।

(c) **उद्योग**–उद्योग एक व्यापक शब्द है जो एक जैसी वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करने वाली समस्त फर्म के समूह के लिए प्रयुक्त होता है। दुसरे शब्दों में, उद्योग ऐसे फर्मों के समूह को कहते हैं जो एक जैसा कच्चा माल प्रयोग में लेती है अथवा एक जैसी वस्तु का निर्माण करती है।

प्लान्ट,फर्म एवं उद्योग में अन्तर–प्लान्ट एक कार्यकारी इकाई है, फर्म एक प्रशासनिक इकाई है जिसके अन्तर्गत एक से अधिक प्लान्ट भी हो सकते हैं, तथा उद्योग एकसा कच्चा माल प्रयोग करने वाली समस्त फर्मों या सेवा का उत्पादन करने वाली समस्त फर्मों का संयुक्त नाम है।

फर्म के आकार को निर्धारित करने वाले घटक

(Factors Determining the size of Firm)

1. **उस व्यवसाय विशेष या उद्योग विशेष की प्रकृति**–फर्म अथवा संस्था उद्योग विशेष का एक छोटा सा हिस्सा या अंश हैं, अतः उसका आकार उस व्यवसाय विशेष या उद्योग विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है। कुछ उद्योग केवल बड़े पैमाने पर ही स्थापित हो सकते हैं जबकि कुछ उद्योग तब ही सफल हो सकते हैं जब वे छोट पैमाने पर स्थापित किये जायें। उदाहरणार्थ विद्युत उत्पादन एवं वितरण का कार्य,इस्पात उद्योग,सीमेन्ट उद्योग आदि बड़े पैमाने पर ही संचालित किये जा सकते हैं जबकि बीड़ी निर्माण का व्यवसाय,बिस्कुट उद्योग आदि का संचालन यदि छोटे पैमाने पर किया जाये तो ज्यादा मितव्ययितापूर्वक सम्भव है।
2. **व्यवसाय में पूँजी की आवश्कता**–ऐसे व्यवसाय में जहॉ पर भूमि,भवन,मशीन,संयन्त्र तथा कार्यशील पूँजी की अधिक मात्रा चाहिए अर्थात् इन कार्यों में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है वह व्यवसाय बड़े पैमाने पर स्थापित किया जाता है,इसके विपरीत जिन व्यवसायों में उपर्युक्त कार्यों के लिए कम पूँजी की आवश्कता होती है उन्हैं छोटे पैमाने पर भी स्थापित किया जा सकता है।
3. **प्रबन्धको की कार्यक्षमता एवं योग्यता**–आज के युग में उत्पादन के घटकों में प्रबन्ध भी एक महत्वपूर्ण एवं अन्य घटकों को प्रभावित करने वाला घटक है,यदि संस्था के प्रबन्धक अधिक कार्यक्षमता वाले एवं योग्य हैं तो व्यवसाय बड़े पैमाने पर स्थापित किया जा सकता है। कम कार्यक्षमता एवं योग्यता वाले प्रबन्धक होने पर व्यवसाय छोटे पैमाने पर स्थापित किया जा सकता है।
4. **बाजार के विस्तार की भावी सम्भावनाएँ**–यदि वस्तु ऐसी है जिसकी माँग भविष्य में बढ़ने की सम्भावना है तो ऐसी वस्तु के व्यवसााय को बड़े पैमाने पर स्थापित किया जामा

है,इसके विपरीत यदि वस्तु फैशनेबल है तथा कुछ समय में फैशन परिवर्तित होने की सम्भावना हेा तो व्यवसाय को छोटे पैमाने पर प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

5. **केन्द्र एवं राज्य सरकारों की उस उद्योग के प्रति नीति**–केन्द्र एवं राज्य सरकारें यदि उद्योग को प्रोत्साहन प्रदान करती हैं तो उस व्यवसाय को बड़े पैमाने पर स्थापित किया जाना चाहिए। ये प्रोत्साहन निम्न हो सकते हैंः

1. करों में छुट अथवा रियायत
2. सहायता एवं अनुदान
3. उत्पाद का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना
4. उत्पादन का कुछ भाग सरकार द्वारा क्रय करने का आश्वासन
5. उत्पादित माल के निर्याकी व्यवस्था करना

सरकार निम्न प्रतिबन्ध लगाकर उद्योग की प्रगति को सीमित कर सकते हैं–

1. करों की दर में वृद्धि
2. उत्पादन की अधिकतम मात्रा पर प्रतिबन्ध
3. उत्पाद का अधिकतम मूल्य निर्धारित कर देना
4. निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देना
5. आयात खोल देना
6. निर्यात शुल्क में वृद्धि कर देना
7. आयात शुल्क में कमी कर देना।

(6) व्यवसाय विशेष में जोखिम की मात्रा–व्यवसाय में जोखिम की मात्रा अधिक होने से उसे छोटे पैमाने पर प्रारम्भ किया जाता है,इसके विपरीत यदि व्यवसाय में जोखिम कम है तो उसे बड़े पैमाने पर प्रारम्भ किया जाना चाहिए। इस तरह व्यावसायिक जोखिम एवं व्यवसाय के आकार में ऋणात्मक सह–सम्बन्ध पाया जाता है।

(7)साहसी की योग्यता एवं अनुभव–वास्तव में व्यवसाय के हानि–लाभ के लिए साहसी ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी होते हैं,अतः यदि साहसी अधिक योग्य एवं अनुभवी होंगे तो व्यवसाय बड़े रूप में प्रारम्भ किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि साहेसी नये हों तो व्यवसाय छोटे पैमाने पर प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

(8)उत्पादन प्रकिया स्वचालित होगी या हाथ से होगी–उद्योग की उत्पादन प्रकिया पूर्ण रूप से स्वचालित एवं कम्प्यूटर से नियन्त्रित है तो व्यवसाय का आकार बड़ा होगा। यदि उत्पादन प्रकिया श्रम शक्ति से संचालित होती है तो उत्पादन की मात्रा कम रखना ही श्रेष्ठहैं।

(9)बाजार में प्रतियोगिता की स्थिति–बाजार में यदि पूर्ण प्रतियोगिता हो तो फर्म का आकार छोटा रखा जाता है तथा अपूर्ण प्रतियोगिता होने पर बड़ा आकार श्रेष्ठहै और यदि बाजार में एकाधिकार की स्थिति हो तो फर्म का आकार सबसे बड़ा होगा।

(10)कच्चे माल की पूर्ति–यदि कच्चा माल प्रचूर मात्रा में उपलब्ध हो तो फर्म का आकार बड़ा रखा जाना चाहिए, इसके विपरीत यदि कच्चे माल के मिलने में बाधा हो तो फर्म का आकार छोटा रखा जाना चाहिए।

(11)शक्ति के साधनों की सुगमता–यदि सस्ते एवं पर्याप्त शक्ति के साधन हों तो फर्म का आकार बड़ा रखना ठीक है। इसके विपरीत यदि शक्ति के साधन महॅगे एवं अपर्याप्त हों तो फर्म का आकार छोटा रखना ही उचित है।

फर्म के आकार को मापने के माप–दण्ड

(Measures of the Size of the firm)

वर्तमान समय तक फर्म का आकार छोटा है या बड़ा है,यह निर्धारित करने के लिये कि किसी फर्म का आकार छोटा है या बड़ा कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है। अतः फर्म का आकार बड़ा है या छोटा,यह निर्धारित करने के लिए निम्न तरीकों का संयुक्त रूप से प्रयोग किया जाता हैः–

1- आदान पद्धति के आधार पर (Inputs Method)

2- प्रदान पद्धति के आधार पर (outputs Method)

3- प्रबन्धकीय जटिलता के आधार पर (Menagement)

अब हम उपर्युक्त तीनों पद्धतीयों का विस्तार से वर्णन करेंगे :

1. **आदान पद्धति के आधार पर–** आदान पद्धति के अन्तर्गत निम्न प्रमापों का प्रयोग किया जाता है :

(1) विनियोजित पूँजी–फर्म के आकार को मापने को श्रेश्ठतम प्रमाप उस फर्म में विनियोजित पूँजी की मात्रा ही है। विनियोजित पूँजी की मात्रा की गणना करते समय निम्न का योग किया जाता है।

i. Paid up Share Capital
ii. Debentures
iii. Loan From Financial Institutions
iv. Amount of Warking Capital.

हमारे देश मे लघु उद्योग एवं बड़े उद्योग का निर्धारण करते समय इस तरीके को ही अपनाया जाता है। यदि किसी फर्म में 10 लाख रूपये से अधिक पूँजी का विनियोग है तो वह बड़ी फर्म कहलाती है और कम का विनियोग होने पर छोटी फर्म कहलाती है। आत की इस मुद्रा स्फीति की स्थिति में यह तरीका अधिक व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है,क्योंकि मुद्रा स्फीति के कारण पुरानी फर्म में विनियोजित पूँजी की राशि कम होगी और नये उद्योग में मुद्रा स्फीति के कारण विनियोजित पूँजी की राशि अधिक होगी।

(2) श्रमिकों को उपलब्ध रोजगार–श्रमिकों को उपलब्ध रोजगार को श्रमिकों की संख्या अथवा मजदूरी भूगतान बिल की राशि द्वारा मापा जा सकता है। जिस फर्म में श्रमिकों की संख्या अथवा मजदूरी भुगतान बिल की राशि कम है तो फर्म का आकार छोटा माना जायेगा। आज के मशीन युग में जहॉ सब उत्पादन प्रक्रियायें स्वचालित हैं तथा कम्प्यूटर के माध्यम से संचालन होता है यह तरीका अव्यावहारिक प्रतीत हेाता है। क्योंकि यह सम्भव है कि स्वचालित यन्त्रों द्वारा थोड़े से श्रमिकों से बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जा सकता है।

(3) उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल की मात्रा–इस मापदण्ड के अनुसार जो औद्योगिक फर्म अधिक कच्चे माल का प्रयोग काती है वह बड़ी फर्म कहलाती है तथा तुलनात्मक दृष्टि से जो औद्योगिक इकाई कम कच्चे माल का प्रयोग करती है वह छोटी फर्म कहलाती है। इस मापदण्ड को भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उत्पादन में कटौती, हड़ताल, तालाबन्दी,उत्पादन कार्य में स्तब्धता आदि कारणों से भी कम कच्चा माल प्रयोग में लिया जा सकता है।

(4) उत्पादन में प्रयुक्त विद्युत शक्ति या ईधन की मात्रा–इस मापदण्ड के अनुसार जो फर्म विद्युत शक्ति या ईंधन का तुलनात्मक रूप से अधिक प्रयोग करती है वह फर्म बड़ी फर्म कही जाती है।

व्यवहार में यह मापदण्ड भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह सम्भव है कि किसी फर्म ने ऐसी आधुनिक मशीनें बना रखी हों जिनके माध्यम से कम ईंधन या विद्युत उपभोग से अधिक उत्पादन सम्भव हो,यह भी सम्भव है कि फर्म अधिकतर उत्पादन हाथ से करती हो जिसमें ईंधन के स्थान पर श्रम शक्ति का अधिक प्रयोग होता हो।

(5)मशीनों की संख्या या क्षमता–इस मापदण्ड के अनुसार जो फर्म अधिक बड़ी अथवा अधिक संख्या में मशीनें लगी होती हैं वह फर्म आकार की दृष्टि से छोटी मानी जाती है। इस मापदण्ड को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए मशीनों की संख्या के स्थान पर मशीन कितनी अश्व शक्ति से संचालित होती है,उसको ध्यान में रखा जा सकता है।

2. **प्रदान पद्धति के आधार पर**–प्रदान पद्धति के अन्तर्गत निम्न प्रमापों का प्रयोग किया जा सकता है–

1. फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा–जब एक ही उद्योग की विभिन्न फर्मों की तुलना करनी हो जो एक समान वस्तु का उत्पादन करती है तो इन फर्मों के उत्पादन की भौतिक मात्रा के आधार पर उनके आकार का निर्धारण सम्भव है। इस प्रमाप के अनुसार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाली फर्म का आकार बड़ा और थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाली फर्म का आकार छोटा माना जाता है। यह मापदण्ड सीमेन्ट,कोयला एवं चीनी उत्पादन करने वाली फर्मों के लिए सर्वश्रेष्ठहै।

2. फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मूल्य–इस मापदण्ड के अनुसार उत्पादित वस्तुओं के मौद्रिक मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। यह प्रमाप उस समय सर्वश्रेष्ठ है जब फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुएँ समान किस्म एवं प्रमाप की नहीं होती है। लेकिन इस प्रमाप का सबसे बड़ा दोष यह है मन्दी एवं तेजी काल में उत्पादन के मूल्य में काफी उतार–चढ़ाव हो सकते हैं जिसके कारण परिणाम भ्रामक हो सकते हैं।

3. उत्पादन की मात्रा एवं मूल्यों का योग–इस पद्धति में उपर्युक्त दोनों पद्धतियों के गुणों का समावेश किया गया है।

3. **प्रबन्धकीय जटिलता के आधार पर**–प्रबन्ध वैज्ञानिकों ने प्रबन्धकीय जटिलता के आधार पर उद्योग के आकार का विभाजन किया है। **पीटर एफ. ड्रकर** के अनुसार,''जिन

व्यावसायिक फर्मों की प्रबन्ध व्यवस्था जितनी अधिक जटिल होगी वह फर्म उतनी ही बड़े आकार वाली कही जायेगी।''

फर्म के आकार में भिन्नता के कारण

साधारण तया फर्म के आकार में भिन्नता के निम्न कारण होते हैं–

1. **फर्मों की जीवन अवधि**–जो फर्म पहले स्थापित हो जाती है उनका आकार धीरे–धीरे बढ़कर बड़ा हो जाता है,इसके विपरीत जो फर्मे नई होती हैं उनका आकार तुलनात्मक दृष्टि से छोटा होता है।
2. **पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव**–व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती है अतः अनार्थिक फर्म भी अस्तित्व में बनी रहती है। अतः व्यावहारिक जगत में फर्म का आकार छोटा एवं बड़ा हो सकता है।
3. **तकनीकी एवं प्रबन्धकीय ज्ञान का विकास**–वर्तमान समय में तकनीकी एवं प्रबन्धकीय ज्ञान का विकास प्रतिदिन हो रहा है,अतः छोटे उपक्रम भी अपनी उत्पादन पद्धतियों में आवश्यक सुधार करके अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। व्यवहार में अनुकुलतम आकार सीमा भी स्थायी नहीं होती है बल्कि बदलती रहती है।
4. **अनुकुलतम आकार निर्धारित करने वाली शक्तियों में अन्तर**–व्यवहार में विभिन्न ढंगों से किये गये अनुकुलतमों के समन्वय में अन्तर भी फर्म के आकार में परिवर्तन कर देता है।

उत्पत्ति का पैमाना

(Scale of Production)

यहॉ उत्पत्ति के पैमाने का अर्थ उत्पादन करने वाली फर्म के आकार तथा उसके उत्पादन की मात्रा से है। साधारणतः उत्पादन का पैमाना निम्न हो सकता हैः–

1. छोटे पैमाने पर उत्पादन
2. बड़े पैमाने पर उत्पादन

सर्वप्रथम हम छोटे पैमाने पर उत्पादन का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

A.छोटे पैमाने पर उत्पादन

जब किसी फर्म की उत्पादन प्रक्रिया में थोड़ी मात्रा में श्रम, यन्त्र,कच्चा माल आदि उत्पादन के साधनों का प्रयोग होता है तथा फर्म के उत्पादन की मात्रा भी कम होती है तो इसे छोटे पैमाने का उत्पादन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में छोटे पैमाने पर उत्पादन का अभिप्राय फर्म के उस आकार से है जहॉ फर्म उत्पादन के साधनों का छोटी मात्रा में प्रयोग करती है तथा फर्म के उत्पादन की मात्रा भी कम होती है।

छोटे पैमाने के उत्पादन से लाभ

(Advantages of Small Scale Production)

वर्तमान युग में जब बाजार विश्वव्यापी बन चुका है फिर भी छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाली फर्में अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं, इससे स्पष्ट है कि छोटे पैमाने के उत्पादन के कुछ विशिष्ट लाभ हैं। अब हम छोटे पैमाने के उत्पादन के लाभों का अध्ययन करेंगे–

(1) व्यक्तिगत सम्पर्क सम्भव–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है,वे एक–दुसरें की कठिनायों से अवगत रहते हैं तथा वे एक दुसरे से हानि–लाभ को अच्छी तरह से जानते हैं।

(2) आर्थिक विशमता को कम किया जा सकता हैं–छोटे पैमाने के उत्पादन के माध्यम से आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीयकरण हो जाता है, जिससे धन कुछ बड़े–बड़े उद्योगपतियों के स्थान पर अनेक छोटे–छोटे उद्यमियों में वितरित हो जाता है, जिससे आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीयकरण सम्भव है। जैसा कि हम जानते हैं कि आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के अनेक लाभ हैं जैसे वर्ग–संघर्श उत्पन्न ही नहीं होता हैं।

(3) अधिक संख्या में रोजगार प्रदान किया जा सकता है–छोटे पैमाने के उत्पादन के अन्तर्गत स्वचालित मशीनों एवं यन्त्रों का कम उपयोग होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन

प्रक्रिया में अधिक कार्य श्रमिकों द्वारा होता है, अतः अधिक संख्या में रोजगार प्रदान किया जाना सम्भव है।

(4) देश की क्षेत्रीय विशमताओं को न्यूनतम किया जा सकता है–छोटे पैमाने पर उत्पादन देश के सभी स्थानों पर सम्भव है जबकि बड़े पैमाने पर उत्पादन केवल कुछ क्षेत्रों में ही अधिक हो सकता है अतः छोटे पैमाने पर उद्योगों की स्थापना करके क्षेत्रीय विशमता को न्यूनतम किया जा सकता है।

(5) प्रबन्धकीय कार्य सरल–छोटे पैमाने पर उद्योग स्थापित होने से स्वामही व्यक्तिगत देख–रेख तथा सम्पर्क के माध्यम से प्रबन्धकीय कार्य सरलता से कर सकता है।

(6) लेखा कार्य में सुविधा–छोटे पैमाने पर उद्योग स्थापित करने से लेखा कार्य आसान एवं सुविधाजनक हो जाता है क्योंकि छोटे उद्योगों को अनेक औपचारिकताओं का पालन नहीं करना पड़ता है,जैसे–

1. अंकेक्षण कराना जरूरी नहीं।
2. समस्त क्रियाकलापों का लेखा नहीं रख कर नकद व्यवहारों का लेखा रखना ही पर्याप्त है।

(7) कार्य करने की स्वतन्त्रता–छोटे पैमाने के उद्योगों में एक ही श्रमिक द्वारा अनेक क्रियाओं तथा प्रक्रियाओं में कार्य करना पड़ता है जिससे श्रमिक सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक अपने स्वयं के थोड़े से साधनों के माध्यम से छोटे पैमाने पर अपना कारखाना स्थापित करके जीविका प्राप्त कर सकता है।

(8) कर्मचारी तथा उद्योगपतियों में प्रत्यक्ष निकट का सम्पर्क सम्भव–लघु उद्योगों में श्रमिकों की संख्या कम होने से मालिक प्रत्येक श्रमिक के बारे में व्यक्तिगत जानकारी रखता है,अतः श्रमिक विवादों की संख्या न्युनतम रहती है क्योंकि श्रमिक मालिक की समस्याओं से अवगत रहते हैं तथा मालिक श्रमिकों की कठिनाइयों को स्वयं पहचानते हैं।

(9) श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास सहज एवं सरल–लघु उद्योगों में उत्तरदायित्व,ईमानदारी एवं स्वाभिमान की भावना स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है,क्योंकि श्रम एवं स्वामी के मध्य निकट का मधुर

सम्बन्ध होता है। इन सब का परिणाम यह होता है कि श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास असानी से हो सकता है।

(10) उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत पसन्द को ध्यान में रखा जा सकता है–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में उत्पादक तथा ग्राहक के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध बना रहता है, अतः निर्माता ग्राहक की पसन्द–नापसन्द को ध्यान में रखकर उत्पादन कर सकता है तथा अपने उत्पादन की किस्म में भी तदनुसार परिवर्तन कर सकता है।

(11) विनियोजित पूँजी पर अल्प समय में लाभ सम्भव–छोटे पैमाने पर स्थापित उद्योग में जो पूँजी लगाई जाती है, इस पर बहुत कम समय में लाभ मिलना प्रारम्भ हो जाता है,जिससे स्वामी को अधिक समय तक इन्तजार नहीं करना पड़ता है।

(12) माँग से अधिक उत्पादन का भय नहीं–छोटे पैमाने की स्थिति में उतना ही उत्पादन किया जाता है जितनी बाजार में माँग होती है। अतः माँग से अधिक उत्पादन की कभी हालत ही उत्पन्न नहीं होती है।

(13) कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन सम्भव–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत स्वामी स्वयं ही उत्पादन करता है अथवा उत्पादन पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखता है तथा श्रमिकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता भी प्रदान की जाती है,अतः इस व्यवस्था में कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन आसानी से हो सकता है।

(14) कारखाना प्रणाली के अवगुणों से बचा जा सकता है–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन का कार्य सम्पूर्ण देश में बिखरा रहता है,अतः कलात्मक प्रणाली के दोष इस व्यवस्था में उत्पन्न ही नहीं हो पाते हैं। जैसे–

1. आवास की समस्या
2. स्वच्छ वातावरण की कमी
3. नैतिक मूल्य मे कमी
4. दूषित पानी एवं चिमनियों से निकले धुऍं की समस्या
5. स्त्री तथा बच्चों का शोषण।

(15) उत्पादन मे लोच सम्भव–छोटे पैमाने के उत्पादन में माँग में वृद्धि तथा कमी के अनुसार उत्पादन की मात्रा को भी बढ़ाया तथा घटाया जा सकता है। इस तरह से उत्पादन मे लोच सम्भव है।

(16) सुक्ष्म निरीक्षण सम्भव–छोटे पैमाने की उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादक अपनी उत्पादन प्रक्रिया की छोटी से छोटी क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि खराब उत्पादन होने से पहले की सुधार सम्भव है जिससे समय एवं श्रम की बचत होती है। मशीनों,यंत्रों व कच्चे माल के मितव्ययितापूर्ण उपयोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(17) उत्पादन को जब चाहे प्रारम्भ किया जा सकता है तथा जब चाहे बन्द किया जा सकता है–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में उत्पादक जब चाहे तब उत्पादन कार्य बन्द कर सकता है तथा पुनः चालू कर सकता है। स्वामी को उत्पादन बन्द करते तथा पुनः चालू करते समय कोई विशेष कानूनी या अन्य समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है।

छोटे पैमाने के उत्पादन से हानियॉ

(Demerits of Small Scale Production)

छोटे पैमाने के उत्पादन से केवल लाभ ही नहीं है, इस व्यवस्था से अनेक हानियॉ भी हैं, जिनका अब हम विस्तार से अध्ययन करेंगेः–

(1) श्रम–विभाजन सम्भव नहीं–छोटे पैमाने के उत्पादन व्यवस्था कार्य थोड़े से श्रमिकों की सहायता से किया जाता है जो उत्पादन की अनेक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। कई बार तो एक ही श्रमिक उत्पादन की समस्त क्रियाओं का सम्पादन करता है,अतः श्रम विभाजन सम्भव नहीं है।

(2) स्वचालित यंत्रों का कम प्रयोग–छोटे पैमाने के उत्पादन व्यवस्था में उत्पादन कार्य छोटी मात्रा में तथा श्रमिकों की सहायता से ही किया जाता है अतः स्वचालित यन्त्रों का कम प्रयोग होता है।

(3)प्रयोग एवं अनुसन्धान की अल्प सुविधा–छोटे पैमाने के उत्पादन व्यवस्था में स्वामी के पास इतना धन एवं साधन नहीं होता है कि वह अनुसन्धान एवं प्रयोग पर अधिक ध्यान दे सके क्योंकि शोध एवं अनुसन्धान के कार्य पर बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ता है।

(4) अवशिष्ट पदार्थों का प्रयोग नहीं हो पाता है–छोटे पैमाने के उत्पादन में संस्था के अवशिष्ट पदार्थों की मात्रा भी कम ही होती है। अतः उनका मितव्ययितापूर्ण प्रयोग सम्भव नहीं होता है। छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में उत्पादक को दुहरी हानि होती है–प्रथम अवशिष्ट पदार्थों का कोई मूल्य नहीं मिलता तथा द्वितीय अवशिष्ट पदार्थों को हटाने पर भी व्यय करना पड़ता है।

(5) आधारभूत उद्योगों के लिए अनुपयुक्त–छोटे पैमाने के उत्पादन व्यवस्था आधारभूत उद्योग जैसे लोहा उद्योग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि इन उद्योंगो को यदि लघु उद्योग के रूप में स्थापित करेंगे तो उत्पादन लागत अधिक आयेगी तथा माल की किस्म भी खराब होगी।

(6) सार्वजनिक सेवाओं के लिए अनुपयुक्त–छोटे पैमाने के उत्पादन सार्वजनिक सेवाएँ जैसे बिजली उत्पादन एवं वितरण, रेल यातायात, सड़क यातायात तथा पानी वितरण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

(7) तकनीकी प्रगति का अभाव–छोटे पैमाने के उद्योगों में संस्था के स्वामी के पास साधन बहुत ही सीमित होते हैं,अतः आधुनिक मशीनों तथा नवीनतम तकनीक का प्रयोग नहीं हो पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश औद्योगिक विकास में तकनीकी दृष्टि से पिछड़ जाता है।

(8) प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति की कमी–छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में संस्था के साधन सीमित होते हैं तथा उत्पादन की लागत बड़े पैमाने के उद्योग की तुलना में अधिक आती है। इन दोनों का संयुक्त परिणाम यह होता है कि संस्था की प्रतिस्र्द्धात्मक शक्ति कम हो जाती है।

(9) वित्तीय साधनों का अभाव–छोटे पैमाने के उद्योग के स्वयं के साधन सीमित होते हैं तथा ऋण प्राप्ति के स्त्रोत भी सीमित होते हैं,अतः आवश्यकता के समय कठिनाई होती है तथा अधिक ब्याज दर देनी पड़ती है।

(10) आर्थिक संकटों को सहन करने की कम सामर्थ्य–छोटे पैमाने की उत्पादन करने वाली संस्था की आर्थिक स्थिति उतनी सुदृढ़ नहीं होती है जितनी बड़े पैमाने के उद्योगों की होती है अतः थोड़े से आर्थिक संकट के समय ही छोटे पैमाने में उद्योग लड़खड़ाने लग जाते हैं।

(11) आन्तरिक बचतों का अभाव–छोटे पैमाने के उद्योग को आन्तरिक बचतें प्राप्त नहीं होती हैं जिससे उनकी उत्पादन लागत बढ़ जाती है तथा विक्रय एवं वितरण की लागत भी अधिक आती हैं

(12)ऊँची उत्पादन लागत–छोटे पैमाने के उद्योग को आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही बचतों से वंचित रहना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन की कुल लागत बड़े पैमाने के उद्योग की तुलना में अधिक होती है, अतः छोटे पैमाने के उद्योग बड़े उद्योग की प्रतिस्र्द्धा में टिक नहीं पाते।

(13) विशेष ज्ञों की सेवाओं का प्रयोग कम हो पाता है–छोटे उद्योगों में ऐसे कर्मचारी तथा श्रमिक ही काम कर पाते हैं जो उस उद्योग की सभी क्रियाओं को सम्पादित कर सकते हों, लेकिन वे विशेष ज्ञ नहीं होते हैं। विशेष ज्ञ केवल एक क्रिया या प्रक्रिया के ही विशेष ज्ञ होते हैं अन्य प्रक्रियाओं के बारे में वे नहीं जानते लेकिन उन विशिष्ट क्रिया या प्रक्रिया को वे श्रेष्ठतरीके से सम्पादित कर सकते हैं। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने से केवल एक क्रिया या प्रक्रिया के विशेष ज्ञ के लिए इतना काम नहीं होता है, अतः उनकी सेवाओं का लाभ नहीं मिल पाता है।

(14) उच्च कोटि का कच्चा माल प्राप्त नहीं हो पाता–कच्चे माल के क्रय में छोटे उद्योगपति के सामने टिक नहीं पाते हैं, अतः उन्हें बड़े उद्योगपति द्वारा अच्छा तथा उच्च कोटि का माल छॉट लेने के पश्चात् शेष बचे कच्चे माल में से ही क्रय करना पड़ता है।

(15) उत्पादन की सभी इकाइयॉ समान किस्म की नहीं होतीं– लघु उद्योगों में अधिकांश उत्पादन कार्य श्रमिकों से होता है, अतः उत्पादन समरूप नहीं होता है। उसके गुण–धर्म तथा किस्म में अन्तर पाया जाता है।

(16) आधुनिक हिसाबी पद्धति का प्रयोग नहीं हो सकता है–छोटे पैमाने कके उद्योग छोटे–छोटे मुनीम से ही बहीखाते रखने को विवश होते हैं क्योंकि उनके पास काम कम होता है, अतः

आधुनिक बहीखातों का प्रयोग नहीं कर पाते हैं जिससे बिक्री कर, उत्पादन शुल्क तथा आयकार चुकाने में कठिनाई आती है।

(17) विज्ञापन व्यय तथा अत्य उपरिव्ययों की लागत प्रति इकाई अधिक हो जाती हैं– छोटे पैमाने के उद्योगों की कुल उत्पादन मात्रा कम होती है, फलस्वरूप समस्त उपरिव्ययों को उन्हें ही वहन करना पड़ता है अतः प्रति इकाई लागत अधिक पड़ती है।

छोटे पैमाने के जीवित रहने के कारण

(Causes of Survival of Small Scale Industries)

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् बड़े उद्योगों का निरन्तर विस्तार हुआ है, क्योंकि बड़े उद्योगों की स्थापना के अनेक लाभ हैं फिर भी छोटे पैमाने के उद्योग जीवित हैं तथा फल–फूल रहे हैं। यह तथ्य हमें यह बताता है कि छोटे उद्योगों में कुछ ऐसी विशेषताएँ तथा गुण हैं जिसके कारण कुछ क्षेत्रों में तो सदैव ही छोटे उद्यागों का ही वर्चस्व रहेगा। अब हम उन परिस्थितियों का उल्लेख करेंगे जो छोटे उद्योगों मे जीवित रखने तथा बढ़ने में सहायक हैं।

(1) एक व्यवसाय विशेष की प्रकृति–निम्न व्यवसाय की प्रकृति ही ऐसी है जिनमें केवल लघु उद्योग ही सफल हो सकते हैं, जैसे–

(a) ग्राहकों की व्यक्तिगत रूचि को सन्तुश्ट करना।

(b) कलात्मक प्रकृति का उत्पादन करने वाले उद्योग।

(c) ऐसे उद्योग जहॉ स्वचालित मशीनों की सम्भावनाएँ कम हों।

(d) मरम्मत का कार्य।

(2) सरकार द्वारा प्रोत्साहन–छोटे उद्योग समाजवादी सिद्धान्तों के अनुकुल हैं, छोटे उद्योगों द्वारा आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीयकरण होता है और धन का समान वितरण सम्भव है।

छोटे उद्योगों से निम्न लाभ होने के कारण सरकार छोटे उद्योगों को सहायता एवं प्रोत्साहन देती है–

i. कारखाना प्रणाली के दोष समाप्त हो जाते हैं।

ii. वर्ग–संघर्श की सम्भावना समाप्त।

iii. आय एवं धन का समान वितरण सम्भव।

iv. देश का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव।

v. रोजगार के अधिक अवसर।

vi. क्षेत्रीय विशमता न्यूनतम।

vii. विकेन्द्रीयकरण सुविधाजनक।

viii. उत्पादन एवं विनियोग की समयावधि कम होती हे।

(3) प्रबन्ध सुविधाजनक–छोटे उद्योगों का प्रबन्ध सुविधाजनक है,क्योंकि

(a) स्वामी एवं श्रमिक में निकट का सम्बन्ध।

(b) विभिन्न क्रियाओं में सहज समन्वय।

(c) शीघ्र निर्णय सम्भव।

(d) सूक्ष्म निरीक्षण सम्भव।

(e) अपव्यय की सम्भावना नहीं।

(4) मानव शक्ति का सदुपयोग सम्भव–लघु उद्योगों में अधिकांश क्रियायें मानव द्वारा ही संचालित होती है, अतः अधिक मानव शक्ति का प्रयोग हो सकता है। भारत जैसे विकासशील देश में जहॉ बेरोजगारी बहुत अधिक है, लघु उद्योग द्वारा रोजगार सम्भव है।

(5) सीमित माँग वाली वस्तुओं के निर्माण के लिए उपयुक्त–ऐसी वस्तुऍ जिनकी माँग बहुत कम होती है अथवा माँग में परिवर्तन आता रहता है, उनके निर्माण के लिए लघु उद्योग ही श्रेष्ठहै।

(6) स्वाभिमानी एवं स्वतन्त्रता–प्रेमी कर्मचारियों के लिए उपयुक्त–बड़े उद्योगों मे समस्त क्रियायें यन्त्रवत् होती हैं,अतः स्वाभिमानी एवं स्वतंत्रता–प्रेमी कर्मचारी कार्य नहीं कर सकते है। ऐसे श्रमिक अपना स्वयं का लघु उद्योग स्थापित कर सकते हैं।

(7) उद्योग में लोच बनी रहती है–लघु उद्योग में लोच का गुण होता है, अतः माँग के अनुसार उत्पादन में परिवर्तन करके लोच को बनाये रखा जा सकता है जिससे संस्था के व्यापारिक उतार–चढ़ाव से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(8) ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्पर्क सम्भव–लघु उद्योग के स्वामी ही विक्रय का प्रबन्ध करते हैं तथा ग्राहक से प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्पर्क में रहते हैं जिससे उनकी माँग के उनुरूप उत्पादन आसानी से किया जा सकता है।

(9) शीघ्र निणय सम्भव–लघु उद्योग में स्वामी ही प्रत्यक्ष रूप से कार्यरत रहता है अतः वह परिस्थितियों के अनुरूप तुरन्त निर्णय ले सकता है जिससे उसके निर्णय सत्यता के अधिक अनुकुल होते हैं और परिणाम यह होता है कि संस्था अपने लाभ को सरलता से अधिकतम कर सकती है।

(10) छोटी–छोटी कुशल मशीनों का आविश्कार सम्भव–लघु उद्योगों में छोटी–छोटी तथा कुशल मशीन जो मानव श्रम एवं कठिन कार्यों को आसान बना सकती है। अससे वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति का लाभ जन–सामान्य तक आसानी से पहुॅच सकता है।

(11) यातायात लागत में बचत सम्भव–लघु उद्योग बाजार के निकट स्थापित होते हैं तथा सम्पूर्ण देश में फैले होते हैं अतः संस्था की यातायात लागत कम आती है। लघु उद्योगों में कच्चे माल के क्रय तथा निर्मित माल के विक्रय की व्यवस्था आस–पास के क्षेत्र में ही हो जाती है।

(12) शीघ्र नश्ट होने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए उपयुक्त–शीघ्र नश्ट होने वाली वसतुओं का उत्पादन लघु उद्योगों द्वारा ही सम्भव है क्योंकि उनका शीघ्र विक्रय भी सम्भव है अन्यथा उनके गुणधर्म में कमी आ सकती है।

B. बड़े पैमाने पर उत्पादन

(Large Scale Production)

वर्तमान समय में उत्पादन बड़े–बड़े कल–कारखानों द्वारा किया जाता है। जहॉ हतारों सुसंगठित श्रमिक बड़ी–बड़ी मशीनों द्वारा, देश–विदेश से प्राप्त कच्चे माल का बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग करके उत्पादन करते हैं। उत्पादन के इसी स्वरूप को वृहद् या बड़े पैमाने का उत्पादन कहा जाता है। बड़े पैमाने के उत्पादन में आधुनिकतम स्वचालित मशीनों का प्रयोग होता है, अधिक मात्रा में उत्पादन किया जाता है श्रम विभाजन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है। जब

किसी इकाई में उत्पादन के सभी साधनों का बड़े पैमाने पर प्रयोग होता हैं, बड़ी मात्रा में उत्पादन होता है तथा बड़ी मात्रा में विक्रय होता है तो इसे ही बड़े पैमाने का उत्पादन कहते हैं।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ

(Advantages of Large Scale Production)

आधुनिक युग में बड़े पैमाने के उत्पादन से उत्पादक,श्रमिक तथा उपभोक्ता तभाी को लाभ प्राप्त होते हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्न है–

(A) **उत्पादक को लाभ**–बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से उत्पादक को अनेक लाभ वृद्धि होने से प्राप्त होती हैं, जैसे–

(a) **तकनीकी बचतें**–इसमें निम्न लाभ सम्मिलित हैं–

(i)विशिष्टीकरण के लाभ

(ii) उत्पादन का उत्तम तरीका

(iii)उच्च प्रशिक्षण प्राप्त तकनीशियनों की सेवा का लाभ।

(b) **वाणिज्यिक बचतें**–इसमें निम्न लाभ सम्मिलित हैं–

(i) बड़े पैमाने पर क्रय–विक्रय का लाभ

(ii) बड़ीमात्रा में यन्त्र एवं प्लान्ट खरीदने का लाभ

(iii) बड़ी मात्रा में विज्ञापन एवं वितरण क्रिया करने से प्रति इकाई खर्च में कमी

(iv) उत्पादन के अन्य साधनों का बड़ी मात्रा में क्रय करने के कारण प्रति इकाई कम खर्च।

(c) **वित्तीय बचतें**–इसमें निम्न लाभ सम्मिलित हैं–

(i) बड़ी मात्रा में साख एवं पूँजी उपलब्ध होने के कारण कम ब्याज दर का भुगतान करना पड़ता है।

(ii) बैंक द्वारा बहुत सी वित्तीय सेवाओं के लिए कोई चार्ज नहीं लिया जाता है।

(iii) विनियोक्ताओं का विश्वास बना रहता है।

(d) प्रबन्धकीय बचतें–

(i) योग्य,अनुभवी,कुशल तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध व्यवस्था का लाभ

(ii) प्रबन्ध में कम्प्युटर का प्रयोग सम्भव

(iii) श्रम–विभाजन का लाभ सम्भव।

(e) जोखिम उठाने की अधिक क्षमता–

(i) छोटे उद्योगों की तुलना में बड़े उद्योग अधिक जोखिम उठा सकते हैं, अतः लाभ की मात्रा भी अधिक होती है।

(ii) शोध एवं अनुसन्धान पर अधिक ध्यान सम्भव।

(2)बाह्य बचतें–जिन बचतों का लाभ एक स्थान पर स्थित सभी इकाइयों को प्राप्त होता है उन्हें बाह्य बचतें कहा जाता है। इन बचतों में निम्न प्रमुख हैं–

1. नये–नये आविश्कार एवं अनुसन्धान सम्भव
2. संचार एवं सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि
3. रेल,सड़क तथा वायु यातायात का विकास
4. बैंकिंग सुविधा का विकास
5. संगठित होकर सरकार से अपनी माँग मनवाना सम्भव
6. देश–विदेश के व्यापारियों से अनायास ही व्यापारिक सम्बन्ध सम्भव।

(3)अविभाज्यता के कारण बचत सम्भव–उत्पादन में अनेक ऐसे यन्त्र एवं प्लान्ट हैं जिनका उपयोग केवल बड़े उद्योग ही कर सकते हैं, जैसे–

1. स्वचालित प्लान्ट एवं मशीन का उपयोग
2. अवशिष्ट पदार्थों का लाभप्रद प्रयोग सम्भव
3. ख्याति अर्जित करना।

(B) श्रमिकों को लाभ–बड़े पैमाने पर उत्पादन किये जाने से उस संस्था के श्रमिकों को भी निम्न लाभ प्राप्त होते हैं–

(1) श्रमिकों की योग्यता,दक्षता,क्षमता एवं अनुभव वृद्धि

(2) श्रमिकों की सौदा करने की क्षमता में वृद्धि

(3) ऊँची मजदूरी दर सम्भव

(4) श्रमिकों का शोषण सम्भव नहीं

(5) श्रमिक संगठनों का विकास

(6) श्रमिकों के आर्थिक एवं राजनैतिक हित सुरक्षित

(7) रोजगार तथा पदोन्नति के अधिक अवसर।

(C)उपभोक्ताओं को लाभ–बड़े पैमाने पर उत्पादन किये जाने से उपभोक्ताओं को निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं–

(1) उपभोक्ताओं को उचित दर पर पर्याप्त मात्रा में वस्तुएँ उपलब्ध

(2) नवीन एवं आधुनिक वस्तुएँ भी बाजार में सुलभ

(3) उपभोक्ताओं के जीवन–स्तर में वृद्धि

(4) उपभोक्ताओं का शोषण सम्भव नहीं

(5) अच्छी एवं प्रमापित वस्तुएँ उपलब्ध।

बड़े पैमाने की उत्पत्ति के दोष

(Evils of Large Scale Production)

बड़े पैमाने के उपर्युक्त लाभों का यह अर्थ कदापि नहीं है कि बड़े पैमाने की उत्पत्ति से कोई दोष नहीं है। वास्तव में बड़े पैमाने की उत्पत्ति से अनुक दोष है जिनमें निम्नलिखित दोष प्रमुख हैं–

(1) धन एवं सम्पत्ति के असमान वितरण में अत्यधिक वृद्धि–बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से लाभ का करीब–करीब सम्पूण्र भाग उद्योगपति अपने पास रखते हैं तथा देश में धनी और अधिक धनी एवं निर्धन और अधिक निर्धन हो जाते हैं। इस तरह से गरीबी व अमीरी के बीच की खाई और अधिक गहरी हो जाती है।

(2) एकाधिकार को प्रोत्साहन–बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था से उत्पादन पर कुछ नाममात्र के उद्योगपतियों का अधिकार हो जाता है,वे छोटी–छोटी इकाईयों को प्रतियोगिता से हटाकर फिर अनेक तरह से उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं।

(3) कारखाना प्रणाली के समस्त दोष विद्यमान–बड़े उद्योगों का जन्म ही कारखाना प्रणाली के कारण हुआ,अतः बड़े पैमाने के उत्पादन से कारखाना प्रणाली के समस्त दोष स्वतः ही प्रकट होते हैं। जैसें–

1. गन्दा व अस्वास्थ्यपूर्ण वातावरण
2. कर्मचारियों का नैतिक पतन
3. वर्ग–संघर्श को जन्म
4. आर्थि मन्दी
5. अति उत्पादन का भय
6. श्रमिकों का शोषण।

(4) श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण के समस्त दोष–बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में श्रम–विभाजन एवं विशिष्ट करण के माध्यम से ही उत्पादन होता है,अतः श्रम विभाजन एवं विशिष्ट करण के समस्त लाभ इस व्यवस्था में विद्यमान रहते हैं,जैसे–

1. कार्य में नीरसता।
2. उत्तरदायित्व का अभाव।
3. श्रमिक भी मशीन की तरह ही एक पुर्जा बन जाता है।
4. अपनत्व का अभाव।
5. श्रमिक केवल मात्र निर्देशों के पुजारी।
6. श्रमिक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उपयोग नहीं।

(5)छोटे उद्योगो का पतन सनिश्चित–बड़े पैमाने उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा की जाती है। इस प्रतिस्पर्द्धा में छोटे उद्योग ठहर नहीं सकते हैं और समाप्त हो जाते हैं।

(6)उपभाक्ताओं की व्यक्तिगत रूचि की सन्तुष्टि सम्भव नहीं–बड़े पैमाने के उद्योग केवल प्रमाणित किस्म की वस्तुओ का ही उत्पादन हैं जैसा कि प्रत्येक उपभोक्ता की रूचि एवं पसन्द प्रत्येक उपभोक्ता की रूचि एवं पसन्द प्रथक होती है, बड़े उद्योग उपभोक्ताओ की व्यक्तिगत रूचि एव पसन्द को सन्तुश्ट नहीं कर पाते।

(7)राजनैतिक भ्रश्टाचार में वृद्धि–बड़े पैमाने उत्पादन व्यवस्था में उद्योगपतियों को अनेक तरह के नियमों का पालन करना पड़ता है,लाईसेन्स लेने पड़ते हैं। अतः उद्योगपति राज्याधिकारीयों को रिश्वत देकर नियमों में छुट प्राप्त कर लेते हैं। इससे राजनैतिक भ्रश्टाचार में वृद्धि होती है।

(8)पूँजीपति एवं श्रमिकों के मध्य मधुर सम्बन्ध समाप्त–बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में श्रमिकों एवं पूँजी परियों के मध्य दुरी बढ़ती जाती है तथा ये दोनों एक–दुसरे को अपना दुश्मन समझते हैं। परिणाम यह होता है कि आये दिन हड़ताल,तालाबन्दी,घेराव,अनशन,काम रोको,धीरे काम करो आदि होते रहते हैं।

(9)साम्राज्यवादी प्रवृति का विकास–बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से उसको बेचने के लिए बाजार खोजना पड़ता है। इतिहास साक्षी है कि इंग्लैण्ड के साम्राज्यवाद के विस्तार के पीछे वहॉ के बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पादन के विक्रय की समस्या ही एक मात्र कारण था।

(10)बड़े पैमाने की उत्पत्ति से विश्व शान्ति को खतरा–ऐसे राश्ट्र जहॉ बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है,अपने उत्पाद को बेचने के लिए अपने इस आर्थिक संशर्घ को राजनैतिक संघर्श का नाम देते हैं और इस तरह से विश्व शान्ति को खतरा उत्पन्न कर देते हैं।

(11)राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीयकरण–बड़े पैमाने की उत्पादन व्यवस्था में समस्त तरह के उत्पादन का कार्य केवल कुछ गिने हुए उद्योगपतियों के पास हीं होता है। ये उद्योगपति धन के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता को हथिया लेते हैं। देश के शासक उद्योगपतियों की कठपुतली बन जाते हैं तथा अफसरशाही इनकी गुलाम बन जाती है।

(12)झुग्गी–झोंपड़ियों की समस्या–बड़े पैमाने उत्पादन किये जाने से श्रमिक दूर–दूर से आकर नौकरी करते हैं, उनके आवास की समस्या बहुत विकट हो जाती है। वे झुग्गी–झोंपड़ीयॉ बनाकर रहने लगते हैं। इन सब का परिणाम यह होता है कि श्रमिक का स्वास्थ्य,नैतिकता तथा चरित्र आदि में गिरावट आती है।

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाएँ

(Limitations of Large Scale Production)

व्यवहार में उत्पादन के पैमाने को अनन्त काल तक नहीं बढ़ाया जा सकता है,क्योंकि एक सीमा के पश्चात उत्पादन की मात्रा बढ़ाने से संस्था को लाभ के स्थान पर हानि होने लगती है,इसे ही बड़े पैमाने के उत्पादन की हानियां कहा जाता है, जिसका संक्षेप में वर्णन निम्नलिखित है–

(1)संगठन एवं प्रबन्धकीय योग्यता–व्यवहार में कोई भी संगठन या प्रबन्ध इतना योग्य नहीं होता हक चाहे जितनी बड़ी उत्पादन इकाई की भली–भॉति देखभाल कर सके। अतः संगठन एवं प्रबन्धकीय योग्यता एक सीमा तक बन जाती है।

(2)आर्थिक साधनों की सीमा–प्रत्येक संस्था के आर्थिक साधन एक सीमा के पश्चात् सीमित हो जाते हैं। संस्था को पर्याप्त मात्रा में यथासम्भव धन की आवश्यकता होती है।

(3)तकनीकी सीमा–प्रत्येक प्लान्ट,मशीन तथा यन्त्र की भी उत्पादन क्षमता सीमित होती है। यदि प्लान्ट,मशीन तथा यन्त्र को उसकी निर्धारित क्षमता से अधिक उपयोग में लाया जाय तो उनके खराब होने का भय रहता है।

(4)उत्पादन के साधनों की पूर्ति भी सीमित होती है–एक सीमा के पश्चात् उत्पादन के विभिन्न साधनों की आपूर्ति भी सीमित हो सकती हो सकती है,जैसे–

- **(a)** कच्ची सामग्री का आयात लाइसेन्स सीमित मात्रा का हो।
- **(b)** अच्छी किस्म का कच्चा माल देश में सीमित मात्रा में ही उत्पादित होता है।
- **(c)** कुशल एवं प्रशिक्षित श्रमिकों की संख्या सीमित हो।
- **(d)** विद्युत आपूर्ति सीमित मात्रा में हो।

(5)एक विशिष्ट उद्योग,व्यवसाय एवं धन्धे का स्वभाव–कुछ विशिष्ट तरह के उद्योग, व्यवसाय एवं धन्धे ऐसे हो सकते हैं जिनको बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए अनुपयुक्त माना जाता है जैसे कृशि कार्य,पेंटिंग का कार्य,मूर्ति निर्माण का कार्य,दर्जी का कार्य,सुनार का कार्य आदि।

(6)माँग की मात्रा कम होना अथवा माँग में अत्यधिक उच्चावचन–कम मात्रा में माँग ी जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन छोटे उद्योगों द्वारा ही किया जा सकता है क्योंकि बड़े उद्योग इस कार्य के लिए अनार्थिक होते हैं। इसी तरह से ऐसे उद्योग जिनकी माँग में अत्यधिक उच्चावन हों उनके लिए भी छोटे पैमाने के उद्योग ही उपयुक्त हैं।

(7)उपभोक्ता की पसन्द–सभी तरहे के उपभोक्ता एक ही गुणधर्म की वस्तुऍ पसन्द नहीं करते हैं। प्रत्येक उपभोक्ता की पसन्द अलग–अलग होती है,इसी कारण एक ही गुण–धर्म की वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन नहीं करके अनेक गुणधर्म की वस्तुओं का छोटी–छोटी मात्रा में उत्पादन किया जाता है।

(8)यातायात लागत अधिक होने के कारण भी उत्पादन का पैमाना किया जा सकता है–अनेक बार उत्पादन का पैमाना इसलिए भी सीमित रखना पड़ता है क्योंकि वस्तु को उपभोक्ता तक पहुॅचाने से यातायात लागत अधिक आती है।

(9)अधिकतम लाभ की सीमा–प्रत्येक संगठन अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है, संगठन का लाभ उस उत्पादन के स्तर पर अधिकतम होता है जहॉ संगठन अनुकुलतम आकार पर उत्पादन कर रहा है। यदि संगठन अनुकुलतम आकार के पश्चात् भी उत्पादन में वृद्धि करता है तो उसे हानि होगी।

बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित करने की प्रवृत्ति

वर्तमान समय में बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित करने की प्रवृत्ति विकसित तथा अविकसित दोनों ही प्रकार के देशों में पाई जाती है। अविकसित देशों में यह प्रवृत्ति आर्थिक विकास और उत्पादन वृद्धि के लक्ष्य से प्रेरित है जबकि विकसित राश्ट्रों में यह प्रवृत्ति प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति से प्रेरित है। संक्षेप में बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित करने की प्रवृत्ति के निम्न कारण हैं।

(1) मूल्यवान एवं बड़े यन्त्रों का प्रयोग करने वाला उद्योग।

(2) ऐसे उद्योग जिनका बाजार विस्तृत होता है जिनका व्यावसायिक क्षेत्र बड़ा होता है।

(3) नये–नये आविश्कारों का व्यावसायिक स्तर पर प्रयोग करने के लिए।

(4) सामरिक महत्व के उद्योग।

(5) आधारभूत उद्योग।

(6) आन्तरिक एवं बाह्म बचतों का लाभ उठाने के लिए।

(7) जिन उद्योगों में उत्पादन प्रक्रिया लगातार एवं एकीकृत होती हो।

(8) जहॉ एक ही यन्त्र से अनेक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण सम्भव हो।

(9) जब कच्चे माल का एक ही स्थान पर केन्द्रीयकरण हो।

(10) जहॉ उत्पादन की किया से लेकर वितरण की समस्त कियायें एक ही संगठन द्वारा सम्पादित होती हों।

प्रश्न

1. फर्म के आकार से आप क्या समझतें हैं? विस्तार से लिखिए।
   What do you mean about size of the firm? Write in details.

2. फर्म के आकार का अर्थ समझाइए तथा फर्म के आकार को निर्धारित करने वाले घटकों का उल्लेख कीजिए।

Discuss meaning of size of the firm and also write factors determining the size of firm.

3. फर्म के आकार को मापने के मापदण्डों का उल्लेख कीजिए।
Write measures of the size of the firm.

4. उत्पत्ति के पैमाने से आप क्या समझतें हैं?
What do you mean about scale production.

5. छोटे पैमाने के उत्पादन के हानि–लाभ बताइए।
Write merits and demerits of small scale production.

6. बड़े पैमाने के उत्पादन के हानि–लाभ बताइए।
Write merits and demerits of large scale production.

7. स्थितिकरण का सिद्धान्त किस प्रकार किसी व्यवसाय के आकार को प्रभावित करता है? समुचित उदाहरण दीजिए।
Write merits and demerits of large scale production.

In what ways theories of location influence the size of business? Give suitable illustration.

खंड - 4 इकाई 7 : रोजगार

इकाई की संरचना

शिक्षण उद्देश्य

परिचय

रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धांत

विशेषताएँ

आलोचनाएँ

कीन्स का रोजगार सिद्धांत एवं प्रभावपूर्ण मांग

समग्र मांग के निर्धारक तत्व

समग्र पूर्ती

समग्र पूर्ती के तत्व

अभ्यास प्रश्न

1.0 शिक्षण उद्देश्य

इस इकाई को पढने के बाद, आप निम्नलिखित में सक्षम हो जायेंगे :

परिचय 1.1

प्राचीन समय में व्यक्ति की तीन प्रमुख आधारभूत आवश्यकताएं होती थी, जिन्हें रोटी, कपडा तथा माकन की संज्ञा दी गयी | लेकिन आधुनिक युग में इन तीन आवश्यकताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता है, रोजगार की | अतः विश्व की सभी सरकारों का यह नैतिक कर्तव्य है की वह अधिक से अधिक व्यक्तियों को उनकी योग्यता, रुचि तथा आवश्यकता अनुसार रोजगार उपलब्ध कराये | रोजगार के आभाव में समाज में निराशा तथा भूखमरी फैलती है एवं देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था ख़राब होने लगती है | पुराने समय से ही अर्थशास्त्रियों ने is समस्या पर विचार करना प्रारंभ कर दिया था, लेकिन उनकी यह मान्यता थी कि पूर्ण रोजगार एक सामान्य स्थिति होती है | इन प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मानना था की यदि मजदूर अधिक मजदूरी की मांग ना करे, मजदूरी दरों में कमी

को स्वीकार कर ले तथा सरकार कोई हस्तक्षेप नहीं करे तो बेरोजगारी उत्पन्न ही नहीं हो सकती है | उपर्युक्त धरना पूर्ण प्रतियोगिता की झूठी धरना तथा जे के नियम के कारन और बढती गई .सी.बी.| प्रशिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स भी प्रारंभ में इस विचार से सहमत थे |

उपर्युक्त विचारों को की महामंदी ने गलत 1930, त्रुटिपूर्ण अव्यावहारिक सिद्ध कर दिया | में मंदी के 1930 कारन करोड़ों व्यक्ति बेरोजगार हो गए तथा अर्थशास्त्र के प्राचीन सिद्धांत इस बेरोजगारी का कोई हल नहीं खोज सके| प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स ने इस समस्या का व्यापक अध्ययन किया तथा 'रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धांत' नाम से एक पुस्तक की रचना की | कीन्स ने अपनी इस पुस्तक में रोजगार के प्राचीन सिद्धांत की आलोचना तथा नया रोजगार सिद्धांत प्रतिपादित किया | यह रोजगार सिद्धांत पिछले ता हैवर्षों से संसार के सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा सम्मानित दृष्टि से देखा जा 50|

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धांत (Classical Theory of Employment)

प्राचीन अथवा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यह विचार था की साधारणतया देश की अर्थव्यवस्था में सदैव ही पूर्ण रोजगार होता है | यदि कभी विशेष कारणों से देश की अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न भी हो जाती हैतो आर्थिक शक्ति ,यां इस तरह के कार्य करेंगी कि कुछ ही समय में फिर से अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी | यह विचार प्राचीन अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ,रिकार्डो , ,.सी.बी.जे ,वाकर ,मिलमार्शल तथा पीगू के the| इन अर्थशास्त्रियों की यह धरना थी कि सामान्य अति उत्पादन असंभव होने के कारण सामान्य बेरोजगारी असंभव है-| प्राचीन अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि निर्बाध पूंजीवादी व्यवस्था स्वयं समायोजित होने वाली होती है | ये अर्थशास्त्री यह मन कर चलते थे कि पूर्ण प्रतियोगिता भ उद्देश्य तथा स्वतंत्र मूल्य तंत्रला ,के कारण अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति निरंतर बनी रहती है | प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने कोई विशिष्ट रोजगार का सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया बल्कि कुछ पूर्व धारणाओं का विकास तथा विस्तार किया जिससे एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं रोजगार के क्रिया कलापों को समझा जा सके-| रोजगार का प्राचीन सिद्धांत पूर्ण रोजगार तथा मूल्य एवं मजदूरी की लोचशीलता पर आधारित है |

प्राचीन अर्थशास्त्री ये मानते थे की स्वतंत्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मूल्य एवं मजदूरी की र्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रख सकतपू ,लोचशीलताी है | इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार सर्कार अथवा एकाधिकार हस्तक्षेप के कारण ही बेरोजगारी उत्पन्न होती है | प्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्री जे .सी.बी. ने प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धांत के विकास में बहुत योगदान दिया| अतः इस सिद्धांत का अध्ययन करने से पहले इस नियम को जानना आवश्यक है |

जिन्होंने बाजारों के नियमों का प्रतिपादन किया the जीन बपिस्ते एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी अर्थशास्त्री | इनके अनुसार पूर्ती सदैव अपनी मांग स्वयं उत्पन्न करती है ,| इनकी यह मान्यता थी कि उत्पादन की प्रत्येक क्रिया उत्पादित वस्तुओं के मूल्य के बराबर साधनों के पारिश्रमिक के रूप में आय को जन्म देती है तथा अतः समस्त पूर्ती का विक्रय ,आय को वस्तुओं को खरीदने में व्यय कर दिया जाता है is हो जाता है|

विशेषताएँ 1.2.1

.1पूर्ण रोजगार अर्थव्यवस्था की सामान्य अवस्था होती है |

.2वस्तुओं की पूर्ती अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है |

.3अर्थव्यवस्था में मांग एवं पूर्ती स्वतः स्थापित कर लेती है |

.4किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में सामान्य अति उत्पादन नहीं हो सकता है |

.5किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में सामान्य बेरोजगारी असंभव है |

.6मजदूरी दर में कटौती द्वारा अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है |

.7अर्थव्यवस्था में बचत एवं विनियोग में समानता ब्याज द्वारा स्थापित होती है |

.8यह सिद्धांत दीर्घकालीन सिद्धांत है |

.9अर्थव्यवस्था में व्याप्त अल्पकालीन बेरोजगारी को आर्थिक शक्तियों की सहायता से पूर्ण रोजगार की अवस्था में बदला जा सकता है |

.10अर्थव्यवस्था में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होती है |

.11नागरिकों की मौद्रिक आय जैसे ही उन्हें प्राप्त होती हैउसे वे खर्च क ,र देते हैं तथ बचतों को भी शीघ्र नियोजित कर दिया जाता है |

.12सर्कार आर्थिक क्रियाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करती है |

आलोचनाएँ 1.2.2

.1पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है- यह मान्यता गलत है , प्रतिष्ठित सिद्धांत यह मनकर चलता है की पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती हैत्रुटिपूर्ण तथा ,धरना गलत वास्तव में यह , क्योंकि उत्पादन के सभी साधन अपनी आय को पूर्ण रूप से उसी समय खर्च नहीं करते ,अव्यावहारिक है बल्कि उसका कुछ भाग बचा लेते हैं ,हैं| तह वर्तमान समस्त आय पूर्ती के बराबर नहीं होती हैबल्कि , रोजगारी को जन्म देती हैमांग की तुलना में पूर्ति अधित होती है जो बे|

.2राजकीय हस्तक्षेप सभी तरह से उचित एवं आवश्यक है - यह सिद्धांत यह मानकर चलता है की सर्कार किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करती हैजबकि वर ,ृतमान समय में सरकार का प्रत्येक आर्थिक क्रिया पर नियंत्रण रहता है | इस सिद्धांत की एक मान्यता को पूरा करने के लिये भी राजकीय हस्तक्षेप जरूरी है | यह मान्यता है कि मांग एवं पूर्ति में संतुलन बनाये रखना जरूरी है | आधुनिक युग में मांग एवं पूर्ति में संतुलन के लिये भी सरकार का हस्तक्षेप जरूरी है | सरकार राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों के माध्यम से हस्तक्षेप करके मांग एवं पूर्ती में संतुलन लाती है |

.3व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता किसी भी अर्थव्यवस्था में नहीं पाई जाती है - यह सिद्धांत पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति को मानकर चलता है जबकि व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता कहीं नहीं पाई जाती है , | यह केवल काल्पनिक स्थिति है अतः यह सिद्धांत भी एक काल्पनिक महत्व ही रखता है ,|

.4पूर्ण रोजगार को सामान्य स्थिति मानना गलत है - इस सिद्धांत में पूर्ण रोजगार को अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति माना गया है जो गलत हैव्यवहार में बेरोजगारी का कुछ न कुछ मात्र अर्थव्यवस्था में , र पाई जाती है तथा पूर्ण रोजगार केवल काल्पनिक स्थिति हैजरू| आज अधिकांश विकसित देशों में तो स्थायी बेरोजगारी पायी जाती है |

.5मजदूरी डर में कमी से बेरोजगारी समाप्त नहीं होती है - इस सिद्धांत में यह माना गया है कि अति उत्पादन होने से बेरोजगारी उत्पन्न होती है | अतः मजदूरी की दरें कम करके उत्पादन की कीमत कम की जाती हैजो अव्यावहारिक तथा कल्पना मात्र है क्योंकि वस्तुओं की कीमतें केवल मजदूरी डर पर ही , निर्भर नहीं करती है |

.6बचत एवं विनियोग में साम्य ब्याज दर द्वारा नहीं होता है - इस सिद्धांत में ब्याज दर द्वारा बचत एवं विनियोग में साम्य स्थापित किया जाता है जो गलत है ,| इस सिद्धांत के अनुसार बचत विनियोग से अधिक होने पर ब्याज दर गिरने लगती है जिससे विनियोग बढ़ता है तथा ,बचत घटती है और अंत में दोनों बराबर हो जाते हैं | कीन्स के अनुसार यह सब केवल कल्पना हैब्याज दर न बचत व्यवहार में , को तथा न विनियोग को प्रभावित करती है|

.7यह सिद्धांत दीर्घकालीन व्याख्या प्रस्तुत करता है - अल्पकाल अधिक महत्वपूर्ण हैजबकि इस सिद्धांत , से अल्पकाल के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है | अता इस सिद्धांत का कुछ भी महत्व नहीं है |

.8कोई भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था स्वचालित एवं स्वयं समायोजित नहीं होती है - इस सिद्धांत की मान्यता है कि अर्थव्यवस्था आर्थिक शक्तियों के द्वारा स्वचालित एवं समायोजित होती है जो गलत है क्योंकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कभी भी वास्तविक रूप में स्वचालित एवं सुव्यवस्थित व्यवस्था नहीं हो सकती है | पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में धनी एवं निर्धन के मध्य आय का असमान वितरण होता है | धनी के पास अधिक धन होने से वह अपनी सम्पूर्ण आय व्यय नहीं कर सकता है तथा निर्धन धन की कमी होने से धन के अभाव में व्यय करे ऐसा संभव नहीं होता हैपूंजीवादी अर्थव्यवस्था तो अति अतः , उत्पादन एवं बेरोजगारी उत्पन्न करने वाली व्यवस्था है|

.9इस सिद्धांत में मुद्रा को केवल विनिमय का माध्यम माना हैजो इसका अति संक ,ुचित अर्थ है - क्योंकि व्यवहार में मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम ही नहीं हैमुद्रा संचय का बल्कि इसके अतिरिक्त , कार्य भी करती है तथा वर्तमान युग में इस कार्य का महत्व बढ़ता जा रहा है|

.10यह सिद्धांत व्यापार चक्र की व्याख्य नहीं करता है - इस सिद्धांत में तो यह कहा गया है कि पूर्ती अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है | अतः व्यापार चक्र स्वतः ही समाप्त हो जाती हैजबकि व्यवहार , में व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं|

कीन्स का रोजगार सिद्धांत 1.2.3

कीन्स का रोजगार सिद्धांत रोजगार के प्रथम व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रसिद्ध है |की महान 1930 त को अव्यावहारिक तहत त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दियाआर्थिक मंदी ने प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धां| कीन्स ने तो स्वयं ,से पहले प्रतिष्ठित सिद्धांत का समर्थन किया था 1930 लिकिन जब महा मंदी ने इस सिद्धांत की पोल खोल दी तो कीन्स ने ही प्रतिष्ठित सिद्धांत के स्थान पर एक व्यावहारिक एवं यथार्थवादी सिद्धांत समाज को दिया | यह सिद्धांत अल्पकालीन सिद्धांत है | कीन्स का यह मान्यता थी कि अल्पकाल में श्रमप्राकृतिक साधन तथा तक ,पूँजी ,नीकी दशाएं स्थिर रहती हैं | अतः उत्पादन एवं आय में वृद्धि के लिये रोजगार में वृद्धि होना अति आवश्यक है | यदि किसी देश के रोजगार में भी अपने आप स्वाभाविक परिणाम के रूप में वृद्धि हो जाएगी |

कीन्स के रोजगार सिद्धांत की विशेषताएँ :

1. यह सिद्धांत सार्वभौम हैजो , रोजगार की सभी परिस्थितियों तथा न्यूनरोजगारपूर्णरोजगार एवं , पूर्ण से अधिक रोजगार जैसी परिस्थितियों में लागु होता है| इससे पूर्व वाला सिद्धांत केवल पूर्ण रोजगार की स्थिति में ही लागु हो सकता था |
2. कीन्स के मतानुसार विनियोग ही केवल मात्र एक ऐसा तत्व है जो रोजगार की मात्र निश्चित करता है | कीन्स ने अपनी व्याख्या में रोजगार में वृद्धि अथवा कमी के लिए उपभोग तथा विनियोग को ही उत्तरदायी माना है | अल्पकाल में उपभोग तो स्थिर होता है क्योंकि उपभोग में आसानी से परिवर्तन संभव नहीं है | अतः विनियोग ही एक ऐसा तत्व है जिसमें परिवर्तन करके रोजगार की मात्र बढाया घटाया जा सकता है |
3. यह सिद्धांत समष्टि दृष्टिकोण पर आधारित है धान थाजबकि प्रतिष्ठित सिद्धांत व्यष्टि प्र ,|
4. सरकार का नियंत्रण एवं हस्तक्षेप रोजगार में वृद्धि करता है | इससे पूर्व प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं में सरकार के हस्तक्षेप को बुरा मानते थे | कीन्स के मतानुसार सरकार का आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप अर्थव्यवस्था के हित में होता है | रोजगार की मात्र वृद्धि के लिए परिस्थितियां स्वतः उत्पन्न नहीं होती हैबल्कि सरकार अपनी नीतियों तथा नियंत्रणों से रोजगार , की मात्र में वृद्धि अथवा कमी करती है |
5. संतुलित बजट के स्थान पर घाटे का बजट श्रेष्ठ हैउत्पादन तथा रोजगार ,क्योंकि इससे आय , है की मात्र बढती|
6. मंदी एवं बेरोजगारी डर कम करने के लिए सार्वजानिक निर्माण कार्य एक श्रेष्ठ उपाय है |
7. अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी एक सामान्य बात है |

कीन्स का रोजगार सिद्धांत एवं प्रभावपूर्ण मांग 1.2.4

गैर असंभव हैकीन्स के रोजगार सिद्धांत का अध्ययन प्रभावपूर्ण मांग के अध्ययन के ब| कीन्स के मतानुसार अल्पकाल में रोजगार की मात्र प्रभावपूर्ण मांग पर ही निर्भर करता हैअतः प्रभावपूर्ण , मांग की मात्र बढ़ने पर रोजगार में वृद्धि होगी घटने पर रोजगार में कमी आएगी ,| दुसरे शब्दों में बेरोजगारी में वृद्धि होगी | पूंजीगत अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी एक सामान्य तथ्य हैक्योंकि जब देश की , राष्ट्रीय आय बढती है तो उस देश के उपभोग में भी वृद्धि होती है लेकिन उपभोग में वृद्धि की मात्र राष्ट्रीय आय में वृद्धि की मात्र से कम होती है अतः दोनों की कुल मात्र में अंतर होता है ,| जब तक यह अंतर विनियोग द्वारा पूरा नहीं किया जाता तब तक देश की अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी रहेगी | अतः बेरोजगारी समाप्त करने के लिए विनियोग की मात्र में वृद्धि करनी चाहिए |

कीन्स के मतानुसार देश की अर्थव्यवस्था में रोजगार की स्थिति प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करती है| ऐसी समग्र मांग जो समग्र पूर्ती द्वारा संतुलित होती है प्रभावपूर्ण कहलाती है | गणित की भाषा में

प्रभावपूर्ण मांग वह बिंदु है जहाँ समग्र पूर्ती चक्र समग्र मांग वक्र को काटता है | समीकरण के रूप में प्रभावपूर्ण मांग को निम्न प्रकार लिख सकते हैं:

प्रभावपूर्ण मांग (1) ---------- ष्ट्रीय आयरा =

राष्ट्रीय आय राष्ट्रीय उत्पादन =

अथवा

राष्ट्रीय व्यय

अतः

= प्रभावपूर्ण मांगराष्ट्रीय व्यय (2)----------

उपभोग व्यय + विनियोग व्यय = राष्ट्रीय व्यय

अतः

(3)---------- यउपभोग व्य + विनियोग व्यय = प्रभावपूर्ण मांग

उपर्युक्त समीकरण का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रभावपूर्ण मांग विनियोग व्यय के (3) अतः उपभोग व्यय अथवा विनियोग व्यय अथवा दोनों में वृद्धि करके प्रभावपूर्ण मांग में ,बराबर होती है वृद्धि संभव है| प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि से रोजगार की मात्र में वृद्धि होती हैइस तथ्य को हम पहले भी , स्वीकार कर चुके है| अतः कीन्स के उपभोग तथा विनियोग को ही प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारक तत्व स्वीकार करने से यह विश्लेषण अधिक व्यावहारिक बन जाता है | प्रभावपूर्ण मांग की परिभाषा का अध्ययन करते समय हमने लिखा था की समग्र मांग तथा समग्र पूर्ती जहाँ एक दुसरे को काटेवह बिंदु , ही प्रभावपूर्ण मांग का बिंदु है|

समग्र माँग

यह उन विभिन्न मौद्रिक राशियों की सूची है जो एक अर्थव्यवस्था के सभी उद्यमी मिलकर रोजगार के विभिन्न स्तरों पर अपनी वस्तुओं के विक्रय से प्राप्ति की आशा रखते हैं | समग्र मांग तकनीकी तत्वों के स्थान पर मनोवैज्ञानिक तत्वों पर अधिक निर्भर करती है | दुसरे दृष्टिकोण से समग्र माँग द्वारा यह ज्ञात होता है कि उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर उपभोक्ता कितनी संभावित राशी व्यय कर सकता है | उपभोक्ताओं द्वारा विभिन्न वस्तुओं के उपभोग पर किया गया व्यय उत्पादकों के लिए आय हैअतः ,

समग्र माँग अनुसूची रोजगार के विभिन्न स्तरों पर उत्पादकों की आय को बताती है| सरल शब्दों में उत्पादकों की आय ही उपभोक्ताओं का व्यय है | अब हम समझने के लिए समग्र मांग की एक काल्पनिक अनुसूची का सहारा लेंगे |

अनुसूची - 1 समग्र मांग अनुसूची

रोजगार का स्तर (करोड़ों में)	समग्र माँग की कीमत (करोड़ों रुपयों में)
7 10 15 24 30 50	10 15 18 21 27 32

उपर्युक्त समग्र माँग सूची का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि,

- रोजगार के स्तर में वृद्धि के साथ समग्र मांग में वृद्धि होती है तथा रोजगार में कमी आने पर समग्र मांग में भी कमी आती है |
- रोजगार के स्तर तथा समग्र माँग में धनात्मक सह संबंध है |
- समग्र माँग अनुसूची रोजगार के वृद्धिमान नियम की क्रियाशीलता को बताती है |

1.2.5 समग्र माँग के निर्धारक तत्व

माँग उपभोक्ता तथा उत्पादक के मनोवैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर करता है समग्र| समग्र पूर्ती तो अल्पकाल में स्थिर ही रहती हैअतः देश की अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा समग्र माँग में हुई , वृद्धि अथवा कमी पर निर्भर है| समग्र माँग के निर्धारक तत्व निम्न हैं:

1. उपभोग क्रिया - एक देश की अर्थव्यवस्था में उपभोग की मात्रा समाज के व्यक्तिगत सदस्यों के उपभोग संबंधी निर्णय पर आधारित है | उपभोग क्रिया को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण तत्व व्यय योग्य आय है | आय में वृद्धि से उपभोग की प्रवृत्ति भी बढती है तथा आय में कमी होने पर उपभोग प्रवृत्ति में कमी आती है | अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति में कोई विशेष अंतर नहीं आता है लेकिन दीर्घ काल में परिवर्तन संभव है |
2. आय का पुनर्वितरण - धनवान व्यक्तियों की तुलना में गरीब व्यक्तियों की उपभोग प्रवृत्ति ज्यादा होती हैकी ओर आय पुनर्वितरण किया जाय तो कुल उपभोग अतः धनवानों से गरीबों , प्रवृत्ति में वृद्धि होगी| यह कार्य निम्न तरीकों से संभव है :

- गरीब व्यक्तियों की उत्पादकता बढाई जाय उन्हें रोजगार के अधिक अवसर दिये जाय ,|
- धनवानों पर प्रगतिशील कर लगाया जाय तथा इस धन को गरीबों की सहायता एवं कल्याण पर खर्च किया जाय |
- गरीबों को कम मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध कराइ जाय उन्हें विभिन्न तरह के अनुदान दिये जाये , |

3. सुसंगठित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था - यदि देश की अर्थव्यवस्था में सुसंगठित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था अपनाया जाता है तो उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है | इसके लिए निम्न तारीकी अपनाये जाते हैं :

- बेरोजगारी बीमा
- स्वास्थ्य एवं चिकित्सा भत्ता
- दुर्घटना बीमा
- वृद्धावस्था पेंशन
- बेरोजगारी भत्ता

4. विज्ञापन - एक अच्छीवैज्ञानिक तथा प्रतिस्पर्धात्मक वैज्ञानिक नीति से अर्थव्यवस्था के कुल , उपभोग में वृद्धि होती है|
5. मजदूरी की दरों में वृद्धि द्वारा - मजदूरों को सीमान्त उत्पादकता बढाकर यदि मजदूरी में वृद्धि की जाती है तो इससे रोजगार में वृद्धि होती है |
6. परिवहन एवं संचार साधनों में वृद्धि करके - परिवहन एवं संचार के साधनों में वृद्धि से बाज़ार की अपूर्णताएँ दूर हो जाती है | परिवहन लागतों में कमी आने से वास्तु का मूल्यघत्ता है तथा उपभोग की मात्र में वृद्धि होती है |
7. बैंकिंग एवं साख सुविधाओं में वृद्धि - बैंकिंग एवं साख सुविधाओं के विस्तार से उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है |
8. शहरीकरण को प्रोत्साहन - ग्रामीण उपभोक्ता की तुलना में शहर के उपभोक्ताओं में उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती हैअतः जनसँख्या को गाँव से सहरों में भेजना चाहि ,ए |

विनियोग क्रिया

अतः विनियोग क्रियाओं में वृद्धि ,कीन्स के अनुसार अल्पकाल में उपभोग क्रिया स्थिर रहती है अतः पूँजी ,कारी विनियोग सरकार के साधनों पर निर्भर करता हैसर ,द्वारा ही रोजगार में वृद्धि संभव है

की सीमान्त उत्पादकता इसको अधिक प्रभावित नहीं कर सकती है | निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न उपाय किये जा सकते हैं :

1. कंपनी टैक्स में कमी द्वारा - कंपनी टैक्स में कमी होने से कंपनी की लाभ उपार्जन क्षमता बढ़ जाती है तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि होती है जिससे विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है |
2. ब्याज दरों को नीची निर्धारित करके - ब्याज डर में कमी करने से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है जिससे विनियोग क्रिया में वृद्धि होती है |
3. मूल्य समर्थन ब्र्तियों की घोषणा द्वारा - वस्तुओं में मूल्य कम होने पर लाभ कम होते हैं , अतः सरकार को मूल्य समर्थक नीति द्वारा वस्तुओं के गिरते हुए मूल्यों को रोकने चाहिए | इससे विनियोग क्रिया में वृद्धि होती है |
4. शोध में अधिक रुचि लेना अनुसंधान एवं नवप्रवर्तक के कार्यों ,- इन कार्यों में अधिक रुचि लेने से भावी लाभ संभावनाएँ तथा विनियोग की प्रेरणा बढ़ जाती है |
5. सरकार द्वारा सहायता एवं अनुदान - सरकार द्वारा सहायता एवं अनुदान में वृद्धि करने से विनियोग डर नाध्ती है |
6. सरकार द्वारा एकाधिकार प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा देना - एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा देने से विनियोग की मात्र में वृद्धि होती है |

समग्र पूर्ती 1.2.6

समग्र पूर्ती कीमत एक विशिष्ट रोजगार के स्तर पर उद्यमियों द्वारा उत्पादित माल की लागत है| उद्यमियों को उत्पादन प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को तथा उत्पादन के |साधनों को भुगतान ny उसे ही समग्र पूर्ती की लागत कहते हैं ,करना पड़ता है| अनुसूची में विभिन्न रोजगार के स्तर पर 2 : समग्र पूर्ति की कीमतों को दर्शाया गया है

अनुसूची समग्र पूर्ति अनुसूची 2

रोजगार का स्तर (करोड़ों में)	समग्र पूर्ति कीमत (करोड़ों रुपयों में)
7 10 15	6 8 11

24 30 30	21 28 35

उपर्युक्त समग्र पूर्ति सूची का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि :

1. रोजगार के स्तर में वृद्धि के साथ समग्र पूर्ति में भी वृद्धि होती है तथा रोजगार में कमी आने पर समग्र पूर्ति में भी कमी आती है |
2. समग्र पूर्ति अनुसूची यह बताती है कि उत्पादक को कम से कम कितना धन प्राप्त करना चाहिए की उसका श्रमिकों को रोजगार देना लाभप्रद बना रहे |
3. पूर्ण रोजगार बिंदु के पश्चात् समस्त पूर्ती कीमत तो बढती ही है लेकिन रोजगार में कोई वृद्धि नहीं होती है | उपर्युक्त सारणी में समग्र पूर्ति जब करोड़ रूपये 35 करोड़ रुपयों से बढ़कर 28 करोड़ ही रहता है उसमें कोई वृद 30 होती है तो रोजगार्धि नहीं होती है |

समग्र पूर्ति के तत्व 1.2.7

कीन्स के मतानुसार अल्पकाल में भौतिक तथा तकनीकी दशाएँ अपरिवर्तित रहती है| अतः पूर्ती में वृद्धि तभी संभव है जब रोजगार में वृद्धि की जाय | उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि तभी संभव है जब पूर्ति कीमत में वृद्धि हो जब उसे समग्र माँग की कीमत अधिक प्राप्त हो ,| समग्र पूर्ति वक्र सदैव बाएं से दायें को ऊपर की ओर उठा हुआ रहता हैत् सीढ़ी उदग्र रेखा बन यह वक्र पूर्ण रोजगार के बिंदु के पश्चा , जाता है| समग्र पूर्ती के निर्धारक तत्वों का वर्णन निम्न है :

1. उत्पादन की भौतिकी तथा तकनीकी सुविधाओं इमं सुधर द्वारा - इस तरह का सुधर निम्न प्रयासों से संभव है :
- उत्पादन की किस्म में सुधर
- उत्पाद के नए नए वैकल्पिक प्रयोगों की खोज
- उत्पाद के पैकिंग में सुधर करके
- उत्पाद के लिए नए बाजारों की खोज द्वारा
2. बेरोजगार साधनों को रोजगार पर लगा कर - उत्पादन के बेरोजगार साधनों को अनेक तरह के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रलोभन देकर यह कार्य आसानी से किया जा सकता है |

अभ्यास प्रश्न

1. रोजगार क्या है जगार की विशेषताओं को बताइयेरो ?|
2. कीन्स के रोजगार सिद्धांत का वर्णन कीजिये |

खंड 4

इकाई 8 राष्ट्रीय आय एवं आय का मापन

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 राष्ट्रीय आय का अर्थ
6.2 परिभाषायें
6.3 राष्ट्रीय आय के तत्व
6.4 राष्ट्रीय आय के निर्देशक सिद्धान्त
6.5 राष्ट्रीय आय की अवधारणायें
6.6 राष्ट्रीय आय का मापन
6.7 राष्ट्रीय आय को मापने की कठिनाइयाँ
6.8 राष्ट्रीय आय की गणना का महत्व
6.9 सम्बन्धित प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- राष्ट्रीय आय को परिभाषित कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आय के तत्व एवं नीति निर्देशक सिद्धान्तों की पहचान कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं में अन्तर कर सकेंगे एवं उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आय का मापन कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आय के मापन में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का वर्णन कर सकेंगे;
- राष्ट्रीय आय और आखथक कल्याण में आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।

6.1 राष्ट्रीय आय का अर्थ

राष्ट्रीय आय की अवधारणा का अर्थशास्त्रा में महत्वपूर्ण स्थान हैं। साधारण शब्दों में किसी देश में एक वर्ष में जितना उत्पादन होता है चाहे वो भौतिक पदार्थों का हो और चाहे सेवाओं का, वही उस देश की आय है। यथार्थतः किसी देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं एंव सेवाओं के कुल मौद्रिक मूल्य को राष्ट्रीय आय कहते हैं। दोहरी गण्राना से बचने के लिऐ इसमें कच्चे माल तथा मध्यवर्ती पदार्थे के उत्पादन को सम्मिलित नहीं किया जाता है। राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय लाभांष, राष्ट्रीय व्यय, राष्ट्रीय उत्पादन आदि शबद एक दूसरे के स्थान पर एवं पयार्यवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय वस्तुओं एवे सेवाओं के उत्पादन में प्रयुक्त मशीनों एवं संयत्राों के मूल्य ह्रास अथवा टूट फूअ को घटा दिया जाता है राष्ट्रीय आय को लगान, ब्याज, मजदूरी एवं लाभ के रूप में विभन्न उत्पत्सि साधनों (भूमि पूंजी श्रम एवं साहसी

इत्यादि) में वितरित कर दिया जाता है। अन्य बातों के समान रहते हुये राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होगी, उतना ही प्रत्येक साधन का अंश अथवा भाग (Share) अधिक होगा।

राष्ट्रीय आय को तीन भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है – कुल उत्पादन मूल्य के रूप में, कुल प्राप्तियों (receipts) के रूप में तथा कुल व्यय (expenditure) के रूप में, तीनों दृष्टिकोणों से हम एक ही परिणाम पर पहुचते हैं। ऐसा क्यों ? अर्थव्यवस्था में जो कुछ भी व्यय किया जाता है वह तत्काल किसी न किसी की आय होती है, अतः सभी आयों का जोड़ बराबर होगा सभी व्ययों के जोड़ के। चूंकि उत्पादित पदार्थें और प्रस्तुत सेवाओं के विक्रेता उनको उन कीमतों पर बेचते हैं जिन पर कि क्रेता उनसे खरीदते हैं, इसलिये विक्रेताओं की कुल आय (total receipts) बराबर होगी क्रेतराओं के कुल व्यय के और कुल आय या कुय व्यय बराबर होगा उन समस्त पदार्थों एवं सेवयाओं के मूल्य के जो खरीदी या बेची गयी है।

6.2 परिभाषायें (Definition)

राष्ट्रीय आय की तीन प्रमुख परिभाषायें मार्शल, पीगू तथा फिशर द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं।

प्रो0 मार्शल के अनुसार, ''किसी देश का श्रम व पूंजी उस देश के प्राकृतिक साधनों पर कार्य करते हुये जो प्रतिवर्ष भौतिक तथा अभौतिक वतुओं एवं सभी प्रकार की सेवाओं का जो शुद्ध योग (net aggregate) उत्पन्न करते हैं उसे ही उस देश की शुद्ध वार्षिक आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश करते हैं।''

इस प्रकार मार्शल के अनुसार देश की सम्पूर्ण उत्पादन क्रियाओं द्वारा उत्पन्न शुद्ध निर्गतों (Net Outputs) का योग करने पर हमें देश की कुल शुद्ध उत्पत्ति का पता चल सकता है। शुद्ध उत्पत्ति को निकालने के लिये कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से मशीनों की घिसावट अर्थात मूल्य ह्रास को घटा दिया जाता है और विदेशों में विनियोग की गयी पूंजी पर मिलने वाली ब्याज आय को जोड़ दिया जाता है। स्मरण रहे, बिना किसी आार्थिक लाभ के की गयी व्यक्तिगत सेवायें या उत्पादन क्रियाओं का उत्पादन मूल्य उसमें नहीं जोड़ा जाता है जैसे बढ़ई द्वारा स्वंय के लिये फर्नीचर बनाना आदि।

अलोचना (Cricisms)

मार्शल की परिभाषा की निम्न आधारों पर आलोचना की गयी है, (i) देश में उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि राष्ट्रीय उत्पादन की गणना करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। (ii) इस परिभाषा का दूसरा दाष दोहरी गणना (double counting) की आशंका का बना रहना है। उदाहरण के लिये 'कपास' के उत्पादन को कृषि उत्पादन में सम्मिलित करने के साथ साथ सूती वस्त्रा उद्योग के उत्पादन में भी सम्मिलित कर लेने पर एक वस्तु की दो बार गणना हो जाती हे। ;पपपद्ध बहुत सी वस्तुओं के उत्पादन की मूल्य गणना करने से रह जाना है क्योंकि उनका काफी बड़ा भाग उत्पादकों द्वारा स्वंय उपभोग कर लिया जाता है जैसे किसान द्वारा अपनी फसल का कुछ भाग अपने निजी उपभोग में लाना। स्वाभाविक है कि जब बाजार में बिक्री
के लिये उत्पादित माल कम आयेगा तो राष्ट्रीय उत्पादन भी कम आंका जायेगा।

प्रो0 पीगू (Pigou) के मतानुसार, ''राष्ट्रीय लाभांश किसी समाज की भौतिक आय का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है और जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है।''

पीगू की परिभाषा मार्शल की परिभाषा की तुलना में दो बातों में श्रेष्ठ है। प्रथम पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में विदेशों से प्राप्त आय को भी सम्मिलित किया जाना चाहिये जबकि मार्शल ने इसका

कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। दूसरा, वस्तुओं सेवाओं के उत्पादन का केवल वहीं भाग राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जा सकता है जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सके। अतः उत्पादन का वह भाग जिसका मौद्रिक मूल्य नहीं होता, राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ एक गृहिणी द्वारा घर में किये गये घरेलू सेवा कार्य का मूल्य, राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जायेगा।

आलोचनायें

प्रो0 पीगू की परिभाषा मार्शल के विपरीत व्यवहारिकता का गुण रखती है और इस परिभाषा ने राष्ट्रीय आय की धारणा को काफी हद तक स्पष्टता तथा निश्चितता भी प्रदान की है। किन्तु उसके बावजूद इस परिभाषा के कुछ दोष बताये जाते हैं जो इस प्रकार हैं : (i) पीगू के विचार बहुत ही संकीर्ण तथा विरोधाभास से भरपूर हैं। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति अपनी नौकरानी को उसकी सेवाओं के बदले में 1000 प्रतिमाह चुकाता है तो उस नौकारनी की सेवायें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जायेंगी क्योंकि उसकी सेवाओं की कीमत मुद्रा के रूप में व्यय की गयी है। अब यदि वह व्यक्ति अपनी नौकरानी से विवाह कर लेता है तो उसकी सेवायें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की जायेंगी, क्योंकि अब उनका कोई मौद्रिक मूल्य नहीं रह जाता। अब ध्यान देने योग्य बात यह है कि नौकरानी की सेवाएं वही हैं लेकिन कभी वे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होती है और कभी नहीं। (ii) यह परिभाषा केवल मौद्रिक अर्थव्यवस्था में ही लागू हो सकती है और जिन देशों में अधिकांश वस्तुओं एवं सेवाओं का मुद्रा द्वारा विनिमय नहीं किया जाता वरन् प्रत्यक्ष रूप से अदल–बदल हो जाता है, वहां इस परिभाषा का कोई महत्व नहीं है।

प्रो0 फिशर, के शब्दों में, ''राष्ट्रीय लाभांष अथवा आय में केवल अंतिम उपभोक्ताओं द्वारा प्राप्त की जाने वाली सेवाओं का ;चाहे ये सेवाएं भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हों, चाहे मानवीय कारणो सेंद्ध समावेश होता है'' प्रो0 फिशर ने उपभोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''इस प्रकार एक पियानो अथवा ओवरकोट जो मेरे लिए इस वर्ष बनाया गया है, वह इस वर्ष की आय का हिस्सा नहीं है।, बल्कि व तो पूंजी में वृद्धि मात्रा है। हां वे सेवायें जो इसी वर्ष के दौरान मुझे प्राप्त हुई हैं, केवल वही राष्ट्रीय आय है।

स्पष्ट है कि फिशर के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश में कुल उत्पत्ति का मूल्य सम्मिलित नहीं किया जाता बल्कि उत्पत्ति में केवल उस भाग का मूल्य ही राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है जिसका उस वर्ष विशेष में उपभोग किया गया है। उदाहरण के तौर पर यदि इस वर्ष के मशीन तैयार की गयी है जिसका मूल्य 50,000 रु0 है और उस मशीन का जीवनकाल 10 वर्ष है तो मशीन का इस वर्ष का उपभोग मूल्य 5000 रु0 हुआ जो उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में जुड़ जायेगा, जबकि उसके विपरीत मार्शल व पीगू के अनुसार मशीन की सम्पूर्ण कीमत यानी 50,000 रु0 इस वर्ष की आय में सम्मिलित की जायेगी।

निःसन्देह फिशर का दृष्टिकोण मार्शल एवं पीगू के दृष्टिकोण से अधिक श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक है क्योंकि उसने एक वर्ष विशेष में वास्तविक उपभोग के मौद्रिक मूल्य को ही राष्ट्रीय आय का अंग माना है। इतना ही नहीं, फिशर का दृष्टिकोण आर्थिक कल्याण की विचारधारा के अधिक निकट है क्योंकि समाज का आर्थिक कल्याण वस्तुओं एवं सेवाओं के कल उत्पादन पर नहीं ब ल्कि उनकी उस मात्राा पर निर्भर करता है जो एक समाज को उस वर्ष विशेष में उपभोग के लिये उपलब्ध होती है।

6.3 राष्ट्रीय आय के तत्व (Elements of National Income)

राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण से राष्ट्रीय आय के तीन तत्व स्पष्ट होते हैं। पहला, राष्ट्रीय आय का आशय किसी देश की शुद्ध आय से होता है। दूसरा, राष्ट्रीय आय का मापन एक निश्चित समयावधि के लिये, जो कि समान्यतया एक वर्ष होता है, के लिये किया जाता है। तीसरा राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं एक सेवाअें को सम्मिलित किया जाता है जिनका विनियम मूल्य होता है किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु एव सेवा के मूल्य की गणना केवल एक बार ही किया जाय।

6.4 राष्ट्रीय आय के निर्देशक (Guiding Principles)

राष्ट्रीय आय का मूल्यांकन करते समय दो निर्देशक सिद्धान्तों को सदैव ध्यान में रखना चाहिये। ये दो निर्देश सिद्धान्त हैं (i) दोहरी गणना से बचावए एवं (ii) हस्तान्तरण भुगतानों से बचाव।

6.4.1 दोहरी गणना से बचाव (Escape from Double Counting)

राष्ट्रीय आय के मूल्यांकन में किसी भी वस्तु अथवा सेवा की दोहरी गणना नहीं होनाी चाहिये; अन्यथा राष्ट्रीय आय के अनुमान गलत सिद्ध होंगे। उदाहरणार्थ कृषि उत्पादन में यदि तम्बाकू का मूल्यांकन कर लिया गया है तो सिगरेटों के कुल उत्पादन मूल्य का अनुमान लगाते समय तम्बाकू के मूल्य को उसमें से घटा देना चाहिये। यदि ऐसा न किया गया तो तम्बाकू के उत्पादन मूल्य को राष्ट्रीय आय के अनुमान में दो बार सम्मिलित कर लिया जायेगा।

दोहरी गणना से बचने के लिये प्रार्थना–प्रायः दो सांख्यकीय विधियों का प्रयोग किया जाता है (i) अन्तिम उत्पाद विधि (final product method), (ii) मूल्य योग विधि (Value added method)। अन्तिम उत्पाद विधि के अनुसार देश में उत्पादित किये जाने वाले उपभोक्ता एवं पूंजीगत वस्तुओं के अन्तिम उत्पादों के मूल्यें को जोड़कर और उसमें सेवाओं के मूल्य को सम्मिलित करके राष्ट्रीय आय का कुल मूल्य निकाल लिया जाता है। मूल्न्य योग विधि के अन्तर्गत अन्तिम उत्पादों के मूल्यांकन के स्थान पर सभी वस्तुओं के उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में सृजित होने वाले मूल्यों का योग करके राष्ट्रीय आय ज्ञात कर ली जाती है।

6.4.2 हस्तान्तरण भुगतानों से बचाव (Escape from Transfer payments)]

राष्ट्रीय आय की गणना का दूसरा निर्देशक सिद्धान्त 'हस्तान्तरण भुगतानों' का राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न करना है। हम जानते है कि राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध उत्पादन अथवा आर्थिक क्रियाओं से होता है। एक व्यक्ति के लिये एक निश्चित समयावधि में जहां उसकी समस्त मौद्रिक प्राप्तियां आय हैं, वहां व्यापक दृष्टिकोण से उन सभी प्राप्तियों को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता; बशर्ते कि व्यक्ति ने इसे अर्जित न किया हो। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी ऐसी आय को राष्ट्रीय आय में तभी सम्मिलित किया जायेगा जबकि, उस आय को पाने के लिय व्यक्ति द्वारा किसी उत्पादक क्रिया में भाग लिया गया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति, 'उपहार'; अथवा हतान्तरण प्राप्ति' के रूप में अन्य लोगों से अथवा सरकार से आय प्राप्त करता है तो यह उसकी वैयक्तिक आय आ अंग तो होगी किन्तु उसे राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जायेगा क्योंकि इस प्राप्ति के बदले कोई उत्पादन क्रिया सम्पन्न नहीं की गयी है अर्थात 'हस्तान्तरण भुगतानों' को छोड़कर विभिन्न व्यक्तियों की आयों का योग ही राष्ट्रीय आय कहलाता है।

6.5 राष्ट्रीय आय की अवधारणायें (Concepts of National Income)

राष्ट्रीय आय की सही जानकारी तब तक सम्भव नहीं हो सकती जब तक कि राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं क समुचित अध्ययन न कर लिया जाय। राष्ट्रीय आय के विशेषज्ञों ने अर्थव्यवस्था की समस्त आय के विषय में छः मुख्य अवधारणायें (Concepts) प्रस्तुत की हैं ये हैं

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product i.e. GNP)
(2) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product, i.e., NNP)
(3) राष्ट्रीय आय अथवा साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income, i.e., NI)
(4) वैयक्तिक आय (Personal Income i.e., PI)
(5) खर्च योग्य वैयक्तिक आय (Disposable Persoanl Income, i.e., DPI)
(6) सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product, i.e., GDP)
(7) शुद्ध घरेलू उत्पाद (Net Domestic Product NNP)

6.5.1 सकल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product)

यह राष्ट्रीय लेखे की एक बुनियादी अवधारणा है। किसी अर्थव्यवस्था में जो भी अन्तिम वस्तुएं ;थ्पदंस चतवकनबजेद्ध एवं सेवाएं एक वर्ष की अवधि में उत्पादित की जाती हैं उन सभी के बाजार मूल्य के जोड़ को सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। सकल राष्ट्रीय उत्पाद ;ळछच्द्ध की गणना करते समय निम्न तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये :

प्रथम GNP में अन्तिम वस्तुओं (final goods) एवे सेवाओं मौद्रिक मूल्य को ही जोड़ा जाता है। मवर्ती वस्तुओं (Intermediate goods) एवं सेवाओं को नहीं। अन्तिम वस्तुओं वे होती है जो उपभोक्ताओं द्वारा अन्तिम रूप से उपभोग कर ली जाती है और इनका प्रयोग अन्य वस्तुओं के उत्पादन में नहीं किया जाता। उसके विपरीत मध्यवर्ती वस्तुये उन्हें कहते हैं जो अन्य वस्तुओं के निर्माण में सहायक होती हैं अथवा निका प्रयोग अन्य वस्तुओं के उत्पादन में किया जता है। उदाहराणार्थ, कपड़ा अन्तिम उत्पाद है जबकि कपास, मध्यवर्ती, इसी प्रकार डबल रोटी अन्तिम वस्तु है जबकि आटा मध्यवर्ती।

दूसरा, सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अनुमान लगाते समय यह भी जरूरी है कि उसमें केवल चालू वर्ष की उपज के मूल्यों को ही जोड़ा जाये अर्थात जो वस्तु जिस वर्ष पैदा की जाये, उसी वर्ष के GNP में सम्मिलित की जाये। इसका कारण यह है कि एकल राष्ट्रीय उत्पाद किसी अर्थव्यवस्था की उत्पादकता का संसूचक होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई वस्तु 2009 में उत्पादित की गयी है और वह 2010 तक नहीं बिक पाती, तो वह वस्तु 2009 के GNP में ही सम्मिलित की जायेगी, 2010 के GNP में नहीं।

तीसरे, कुल राष्ट्रीय उत्पाद में से पूंजीगत वस्तुओं की घिसावट मूल्य ह्रास तथा प्रतिस्थापन लागत आदि को घटाया नहीं जाता है। वास्तव में यही कारण है कि इसे कुल या सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं।

6.5.2 शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product)

यद्यपि सकल राष्ट्रीय आय की धारणा उत्पादन एवं रोजगार सम्बन्धी दशाओं की अधिक विश्वसनीय सूचकांक है लेकिन इसके बावजूद समष्टि विश्लेषण (Macro Analysis) की यह धारणा दोषपूर्ण है। जिस प्रकार एक फर्म का कुल लाभ (Gross profit) उसकी वास्तविक स्थिति का चित्रा

प्रस्तुत नहीं करता बल्कि फर्म की सही सही स्थिति जानने के लिये शुद्ध लाभ (Net profit) की जानकारी करना आवश्यक होता है। ठीक उसी प्रकार GNP किसी देश की आर्थिक उपलब्धियों का धुधला चित्रा ही प्रस्तुत करता है ओर देश की सही अर्थों में आार्थिक प्रगति का मूल्यांकन करने के लिये उसके विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) की जानकारी करना आवश्यक माना जाता है।

यदि कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में से मूल्य ह्रास आदि को घटा दिया जाय तो जो शेष बचता है उसे विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। इसको बाजार कीमतों पर राष्ट्रीय (National Income at Market Prices) भी कहा जाता है।

$$NNP = GN — Depreciation$$

निःसन्देह, NNP की अवधारणा देश में हुई उत्पादन वृद्धि का एक सपाट प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है जिस कारण इसका 'विकास के अर्थशास्त्रा' (growth economics) में एक विशेष महत्व है। किन्तु इस धारणा में एक गम्भीर दोष यह पाया जाता है कि पूंजीगत घिसावट अर्थात मूल्य ह्रास का सही सही अनुमान लगाना एक कठिन कार्य है जिस कारण छछच अनुमान कभी कभी भ्रमात्यक सिद्ध होते हैं।

6.5.3 राष्ट्रीय आय अथवा साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income or National Income at Factor cost)

उत्पति के सभी साधनों जैसे भमि श्रम, पूंजी संगठन व साहसी को प्राप्त होने वाले आय सम्बन्धी भुगतानों के योग को राष्ट्रीय आय कहते हैं। दूसरे शब्दों में विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) में से उत्पादको द्वारा चुकाये गये अप्रत्यक्ष कों को घटा देने और सरकार द्वारा फर्मों को प्रदत्त आार्थिक सहायता (Subsdies) को जोड़कर देने पर, राष्ट्रीय आय प्राप्त हो जाती है।

सूत्र के रूप में

$$BNI = NNP — Indirect\ Taxes + Governemtn\ Subsidies$$

$$NI = GNP — Depreciation—Indirect\ Taxes + Subisidies$$

प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीय आय की मात्राा, विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) के बराबर क्यों नहीं होती ? अर्थात NNP में से अप्रत्यक्ष कर क्यों घटा दिये जाते हैं तथा इसमें आार्थिक सहायता क्यों जोड़ दी जाती है ? इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। चूंकि NNP की कुल मात्राा उत्पत्ति के साधकों मके बीच वितरण के लिये उपलब्ध नहीं होती क्योंकि व्यवसायिक फर्मो को अपने उत्पादन पर सरकार को अप्रत्यक्ष कर (जैसे excise duty) भी चुकाने पड़ते हैं, इसलिये इन करों की मात्राा को छछच से घटा दिया जाता है। इसी प्रकार फर्मों को सरकार द्वारा कभी कभी आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है जिसे NNP में जोड़ दिया जाता है। ध्यान में रखने वाली बात यह है कि राष्ट्रीय आय की धारणा का सीधा सम्बन्ध आार्थिक न्याय की धारणा से होता है।

6.5.4 वैयक्तिक आय (Personal Income)

एक वर्ष की अवधि में एक देश के सभी व्यक्ति या परिवार जितनी आय वास्तव में प्राप्त करते हैं, उन सभी आयों के जोड़ों को वैयक्तिक आय (Personal Income) कहा जाता है। स्मरण रहे, एक देश में, किसी वर्ष विशेष के दौरान उत्पादन साधनों द्वारा अर्जित की गयी सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय उन्हें उपलब्ध नहीं होती अपितु उसमें से कुछ कटौतियां की जाती हैं। ये कटौतियां इस प्रकार हैं,

नियमों द्वारा अपनी आय पर दिया गया कर भुगतान, कम्पनियों द्वारा न बांटा गया लाभांश वेतन भोगियों अथवा कर्मचारियों द्वारा प्रावीडेण्ट फण्ड इत्यादि की आंशदान। इसके विपरीत, कुछ ऐसी रकमें भी उत्पादन साधनों को प्राप्त होती हैं जिनके लिये उन्होंने कोई उत्पादन कार्य नहीं किया होता। ऐसी रकमों को हस्तांतरित भुगतान (Transfer payments) कहा जाता है। वृद्धावस्था पेन्शन, बेरोजगारी भत्ता, आदि हस्तांतरित भुगतान के कुछ उदाहरण हैं।

संक्षेप में वैयक्तिक आय की गणना करते समय राष्ट्रीय आय में से निगम कर (Corporate Tax), कम्पनियेां द्वारा अवितरित लाभांश तथा सामाजिक सुरक्षा के लिये किये गये अनिवयार्य भुगतानों को घटाना चाहिये क्योंकि ये लोगों की आय को कम कर देते हैं लेकिन इसके साथ साथ लोगों को सामाजिक सुरक्षा के रूप कमें मिलने वाले लाभ जोड़ देने चाहिये क्योंकि ये हस्तान्तरणीय भुगतान लोगों की आय में वृद्धि कर देते हैं सूत्रा के रूप में ¾

Personal Income = National Income — Social Security Contruibutions—Corporate Income Taxes—Indistributed Corporate Profits + Transfer Payments

6.5.5 व्यय योग्य वैयक्तिक आय (Diposable Persoanl Income)

व्यक्तियों अथवा परिवारों की जो वैयक्ति आय होती है, वह सारी की सारी उपभोग में नहीं लाई जा सकती। उसका कारण यह है कि लोगों को अपनी निजी आय पर सरकार को कुछ प्रत्चक्ष करों जैसे आयकर, सम्पत्ति कर आदि, भी देना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष करों के भुगतान करने के बाद जो शेष बचता है उसे उपभोग्य वैयक्तिक आय अथवा व्यय योग्य वैयक्तिक आय कहते हैं। सूत्र के रूप में,

Disposable Personal Income = Persoanl Income—Direct Taxes

यह कोई जरूरी नहीं कि सम्पूर्ण उपभोग्य वैयक्तिक आय को उपभोग दर व्यय कर दिया जाय। हाँ आम तौर पर उपभोक्ता द्वारा अपनी आय का अधिकांश भाग उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है और कुछ भाग बचा लिया जाता है। अतः

Disposable Personal Income = Consumption + Saving

6.5.6 सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product)

राष्ट्रीय आय की उपर्युक्त पांच धारणाओं के अतिरिक्त एक और धारणाा की भी प्रायः प्रयोग किया जाता है। यह है सकल घरेलू उत्पाद (GDP)। यदि किसी देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना करने में विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय (Net factor income from abroad) को न सम्मिलित करे तो वह 'सकल घरेलू उत्पाद' (GDP) कहलाता है

GDP = GNP — Net factor Income from abroad

or GNP = GDP + Net factor Income from abroad

6.5.7 शुद्ध घरेलू उत्पाद (Net Domestic Product)

सकल घरेलू उत्पाद में से मशीनों पर संयत्राों के प्रयोग के कारण होने वाली टूट फूट या घिसावट से उत्पन्न मूल्य ह्रास (Depreciation) घटा देने पर शुद्ध घरेलू उत्पाद का अनुमान प्राप्त हो जाता है।

6.6 राष्ट्रीय आय का मापन (Measurement of National Income)

राष्ट्रीय आय की अवधारणाओं के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि राष्ट्रीय आय को निम्नलिखित तीन भिन्न विधियों से मपा जा सकता है और इन तीन विधियों से परिणाम एक ही निकलेगा।

(1) समय ही दी हुई अवधि में उत्पादन के सभी साधनों को जो पारिश्रमित या आय प्राप्त होती है, उन सभी की योग, चाहे वह आय उन्हें नकदी में मिले या वस्तुओं या सेवाओं के रूप में।

(2) देश के सभी उत्पादन क्षेत्राों में जितना शुद्ध उत्पादन हो, उसका योग।

(3) उपभेक्ताओं तथा सरकार द्वारा उपभोक्ताअ पदार्थों और सेवाओं पर किये गये अन्तिम व्ययों तथा पूंजीगत पदार्थें पर किये गये व्ययों का योग।

पहली विधि में तो सभी आयों को जोड़ लिया जाता है, दूसरी में सभी शुद्ध उत्पादनों को और तीसरी में सभी अन्तिम व्ययों को परन्तु इन विधियों से परिणाम एक ही मिलता है। इन तीनों विधियों में सें किस विधि को, किस समय अपनाया जाए, इसका निर्णय इस बात से किया जाता है कि राष्ट्रीय आय का अनुमान किस अभिप्राय से किया जा रहा है और इस अर्थव्यवस्था के रूप को ध्यान में रखते हुये कौर सी विधि कम कठिन या सुविधाजनक होगी। अब हम राष्ट्रीय आय को मापने की इन विधियों की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

6.6.1 उत्पाद संगणना विधि अथवा शुद्ध मूल्य वृद्धि विधि (Census of Production Method or Net value of Added Method)

इस विधि में हम राष्ट्रीय आय तक उत्पादन की ओर से पहुंचते हैं। इस रीति के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिये अर्थव्यवसाी के सभी क्षेत्राों जैसे कृषि, खनन, निर्माणी उद्योग, लघु उद्यम, वाणिज्य व परिवहन आदि कि किसी वर्ष किसी वर्ष विशेष में की गई उत्पादन मूल्यों में शुद्ध वृद्धियों (Net Values added) को जोड़ लिया जाता है। कुल उत्पादन के मूल्य में से आगतों (Inputs) के मूल्य को घटा देने पर मूल्य वृद्धि (Value added) का अनुमान प्राप्त हो जाता है। यह विधि अपनाने पर उत्पादन के सभी क्षेत्राों के योगदान का अनुमान लगाया जा सकता है।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाअें के मौद्रिक मूल्य को ही सम्मिलित किया जाय। कुल उत्पादन में से कच्चे पदार्थों तथा मध्यवर्ती पदार्थी के मूल्य को घटा दिया जाय। ह्रास को भी घटना होगा। जिससे शुद्ध मूल्य वृद्धि की अनुमान प्राप्त हो सके। इस मूल्य में विदेशी व्यपार से प्राप्त शुद्ध आय, अवदेशों में सरकार या व्यक्तियों के बैंक खातों व प्राप्त प्रतिभूतियों में होने वाली वृद्धि तथा मकानों के किराये मूल्य (चाहे मकान किराये पर हो या मालिक स्वयं उसमें रह रहा हो) को भी जोड़ दिया जाता है।

उत्पादन विधि से राष्ट्रीय आय की अनुमान लगाने में अनेक व्यवहारिक कठिनाइयां सामने आती हैं। कच्चे पदार्थें मध्यवर्ती पदार्थीं तथा मूल्य ह्रास के मूल्य का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार का उत्पादन ऐसा है जिसका मूल्य लगाने का कोई निश्चित आधार नहीं है जैसे

गृहणियों द्वारा किये गये गृहकार्य का मूल्य/अर्द्ध विकसित देशों में छोटे उत्पादकों द्वारा कृषि के क्षेत्रा में उत्पादन बाजार में बेचने के बजाय स्वंय ही उपभोग कर लिया जाता है। उत्पादन के सभी क्षेत्राों तथा उप क्षेत्राों में पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। उस रीति की सफलता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि उत्पादन सम्बन्धी आंकड़े पर्याप्त मात्राा में उपलब्ध होने चाहिये।

6.6.2 आय संगणना विधि (Census of Income Method)

राष्ट्रीय आय को मापने की दूसरी विधि आय विधि है। यह विधि राष्ट्रीय आय तक वितरण की ओर से पहुंचती है। दूसरे शब्दों में उस विधि में राष्ट्रीय आय का अनुमान देश के विभिन्न व्यक्तियों या वर्गों की आयों को जोड़ कर किया जाता है। यह भूमि पर लगाना, मजदूरी तथा वेतन, पूंजी पर ब्याज एवं लाभ ;कम्पनियों आदि के अवितरित लाभ को सम्मिलित करकेद्ध के योग से प्राप्त होता है। इस प्रकार इस रीति में राष्ट्रीय आय इसके वितरण के पश्चात मापी जाती है अर्थात जब उत्पादन में योगदान के प्रतिफल के रूप में व्यक्तियों को प्राप्त हो चुकी होती है। साधनों की इस आय को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। (i) श्रमिकों का वेतन एवं मजदूरियां, (ii) गैर कम्पनी व्यवसायों (Non-Company businesses) की आय, (iii) व्यक्तियों की किराये से आय (rental income of persons), (iv) निजी व्यवसायिक कम्पनियों के लाभ, तथा (v)विशुद्ध ब्याज से आय।

प्रथम श्रेणी में पूरक भत्तों सहित मजदूरों के वेतनों एवं मजदूरियों को सम्मिलित किया जाताह ै। पूरक भत्तों से अभिप्राय उन विभिन्न अंशदानों से हैं जो सेवायोजाकें द्वारा मजदूरों के प्रवीडेण्ट फण्ड्स एवं पवेशंनकोषों में जमा किया जाता है। दूसरी श्रेणी में व्यक्तिगत स्वामियों (Individual proprietors) साझेदारों एवं स्व नियोजित लोगों (Self employed persons) की आय को सम्मिलित किया जाता है। तीसरी श्रेणी में कृषि एवं गैर कृषि सम्पत्ति से व्यक्तियों द्वारा कमायी गयी किराये की आमदनी को सम्मिलित किया जाता है। चौथी श्रेणी में अंशधारियों को लाभांश वितरित करने से पूर्व अथवा व्यवसायिक लाभ करों को चुकाने से पूर्व व्यावसायिक फर्मों द्वारा कमाये गये लाभ सम्मिलित किये जाते हैं। इस प्रकार कुल राष्ट्रीय उत्पाद का अनुमान लगाते समय जिस व्यवसायिक लाभ को सम्मिलित किया जाता है वह बराबर होता है = व्यवसायिक लाभ कर + अंशधारियों को चुकाया गया लाभांध + अवितरित व्यवसायिक लाभ। पांचवी श्रेणी में सरकारी संस्थाओं को छोड़कर अन्य स्त्राोतों से कमाये गये व्यक्तियों के विशुद्ध ब्याज (Net interest) को सम्मिलित किया जाता है। उपर्युक्त सब राशियों को अप्रत्यक्ष करों (जो सरकार द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं पर लगाये जाते हैं) जोड़ से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) का पता चल जायेगा। यदि आय विधि से हमें कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) ज्ञात करना हो तो इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में पूंजी की घिसावट अथवा मूल्य ह्रास (Depreciation) की मात्राा जोड़नी होगी।

इस रीति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे समाज के विभिन्न वर्गों में आय वितरण का पता लगता है ओर दोहरी गणना की संभावना बहुत कम रहती है। परंतु करोड़ों लोगों की आय की अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, विशेषकर उस समय जब आय वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में प्राप्त होती है।

6.6.3 व्यय विधि या निर्गत विधि (Expenditure or Ouptoput Method)

राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की तीसरी विधि व्यय विधि की है। इस विधि में राष्ट्रीय अय का अनुमान सभी प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं पर किये गये कुल व्ययों को जोड़कर किया जाता है। देश में जितना कुल उत्पादन होता है उसे बाजार मूल्यों पर खरीद लेने से जो कुल व्यय होगा, वह राष्ट्रीय आय होगी। उत्पादन का कुछ भाग तो व्यक्ति और परिवार उपभोग के लिये खरीदते हैं, कुछ भाग लोग निवेश (Investmenty) के लिये खरीदते हैं, कुछ भाग सरकार अपने कार्यों के लिये खरीद लेती है और कुछ भाग विदेशी लोग खरीद लेते हैं। अतः कुल राष्ट्रीय आय या उत्पादन को मालूम करने के लिये हमे निम्नलिखित राशियों को जोड़ना होगा।

(i) वैयक्तिक उपभोग व्यय (Personal consumption expenditure) अर्थात वह सारा व्यय जो देश के लोग या परिवार अपने निजी उपभोग के लिये वस्तुओं तथा सेवाओं पर करते हैं। उन उपभोग की जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं को तीन वर्गों में बांटा जाता है-टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुयें, गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुयें तथा सेवायें। गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुये वे हैं जिसका उपभोग अल्पकाल में ही हो जाता है जैसे खाद्यान्न, सब्जी, बेकरी उत्पाद आदि। टिकाऊ वस्तुयें वे हैं जिनका उपयोग दीर्घकाल तक होता रहता है जैसे कारें, टी0वी0, फ्रिज आदि।

(ii) सकल निजी निवेश (Gross Private Investment)—अर्थात जिनका व्यय गैर सरकारी उद्यमी या व्यवसायी नये निवेश पर और पुरनी पूजीं को कायम रखने पर करते हैं। निजी निवेश का भी तीन वर्गों में बांटा जाता है= निजी स्थायी निवेश (Private Fixed Investment) जो व्यय उद्यमकर्ता नई मशीनों अन्य, पूजीगत साज सामान पर करते हैं, आवासीय निवेश (Residential Investment) जो व्यय मकानों के निर्माण पर किया जाता है, तथा वस्तुओं के स्टॉक भण्डारों में वृद्धि (Income in stock of goods)।

(iii) सरकार द्वारा किये गये व्यय (Government Purchasers)—इसमें देश की सरकार जिसमें केन्द्रीय सराज्य तथा स्थानीय सरकारें शामिल हैं, द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं पर किया गया व्यय शामिल होता है। सरकार द्वारा किया गया प्रतिरक्षा (Defence), पुलिस *(Police) तथा विकास कार्यों (developmental works) जैसे सड़कों, नहरों, सरकारी उाोगों की स्थापना तथा संचालन पर किया गया व्यय शामिल होता है। किन्तु इसमें सरकार द्वारा व्यक्तियों को किये गये हस्तान्तरित भुगतानों (ransfer Payments) जैसे कि सामाजिक सुरक्षा तथा कल्याण (Social Security and Welfare) पर किये गये व्ययों को राष्ट्रीय आय में शमिल नहीं किया जाता क्योंकि ये हतान्तरित भुगतान वर्तमान आय का पुनर्वितरण मात्रा है न कि वस्तुओं एवं सेवाओं के बदले में किया गया भुगतान।

(iv) शुद्धनिर्यात (Net Exports)—अर्थात देश का निर्यात आधिक्य (expert surplus) दूसरे शब्दों में जितना व्यय विदेशी किसी देश की वस्तुओं एंव सेवाओं को खरीदने पर करते हैं वह उस देश द्वारा विदेशों से आयात की गयी वस्तुओं एंव सेवाओं के कुल मूल्य से कितना अधिक है। यदि निर्यात को × द्वारा तथा आयात को M द्वारा व्यक्त किया जाय तो X-M या Xn शुद्ध निर्यात का सूचक हैं।

यदि वैयक्तिक उपभोग व्यय को C द्वारा, कुल निजी निवेश को I द्वारा, सरकार द्वारा किये गये व्यय को G द्वारा तथा शुद्ध निर्यात को Xn द्वारा व्यक्त किया जाय तक सकल राष्ट्रीय उत्पाद ;ळछद्ध को निम्न जोड़ से प्राप्त किया जा सकता है।

GNP = C + I + G + Xn

राष्ट्रीय आय को मापने की आय विधि तथा व्यय विधि की तुलना तालिका 6.1 में की गई है।

तालिका 6.1 रू सकल राष्ट्रीय उत्पाद के आय तथा व्यय दृष्टिकोण
(Income of Expenditure Approaches to GNP)

व्यय दृष्टिकोण		आय दृष्किोण
परिवारों द्वारा उपभोग पर किये गये व्यय + सरकार द्वारा खरीदी गई वस्तुए और सेवायें + व्यवसायों द्वारा निवेश किये गये व्यय + विदेशियों द्वारा कये गये शद्ध व्यय +	= GNP =	मजदूरी + किराया + ब्याज + लाभ + अप्रत्यक्ष कर + पूंजी की घिसावट अथवा मूल्य ह्रास

6.6.4 उत्पादन आय सम्मिश्रण विधि (Combination of Production Income Method)

इस विधि का विकास उत्पाद संगणना विधि और आय संगणना विधि की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये किया गया है। उत्पादन संगणना विध के अन्तर्गत वेतन भोगी व्यक्तियों की आय जुड़ने से रह जाती है और इसी प्रकार आय संगणना विधि के अन्तर्गत आय कर न देने वाले व्यक्तियों की आय राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं हो पाती। अतः दोनों विधियों के दोषों को दूर करने हेतु राष्ट्रीय आय की गणना करते समय इन दोनों विधियों का एक साथ प्रयोग किया जाता है ताकि राष्ट्रीय आय के अनुमान वास्तविकता के अधिक समीप हो सकें। इस विधि के अन्तर्गत अर्थ व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों का आय के आधार पर और शेष क्षेत्रों का उत्पादन के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है।

6.7 राष्ट्रीय आय को मापने की कठिनाइयाँ (Difficulties in the Measurement of National Income)

किसी देश की राष्ट्रीय आय की गणना करते समय अनेक कठिनाइयों एवं जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। ये कठिनाइयां एवं जटिलतायें इसलिये उत्पन्न होती हैं क्योंकि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों (Sectors) के बारे में विश्वसनीय आंकड़ों का या तो पूर्ण आभाव रहता है और/या वे केवल आंशिक रूप में ही उपलब्ध होते हैं। ये समस्याएं इसलिये भी उत्पन्न होती हैं क्योंकि इस कार्य को सम्पन्न करने वाली संस्थाओं को (विशेषकर अल्पविकसित देशों में) राष्ट्रीय लेखा विधियों का स्पष्ट एवं सही ज्ञान नहीं होता।

पश्चिम के विकसित देशों में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी गणनाओं के कार्य में इतनी कठिनाइयां एवं जटिलतायें उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि इन देशों ने अपनी साांख्यकीय प्रणालियों को पर्याप्त ऊचे

स्तर तक विकसित कर लिया है। इसके अतिरिक्त वे देश अपनी अर्थव्यवस्थओं के विभिन्न खण्डों के बारे में विस्तृत एवं विश्वसनीय आँकड़े भी एकत्रा कर कसते हैं।

लेकिन एशिया एवं अफ्रीका के पिछड़े एवं अल्पविकसित देशों पर यह बात लागू नहीं होती। राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये कठिनाइयां सांख्यकीय (Statistical) एवं अवधारणात्मक (Conceptual) दोनों प्रकार की हैं।

1. इन देशों में उपलब्ध आंकड़े उपर्याप्त ही नहीं बल्कि अविश्वसनीय भी हैं। उदाहरणार्थ भारत के कृषि से सम्बन्धित आंकड़े पूर्ण नहीं हे। भारतीय कृषि में उत्पादन लागतों से सम्बन्धित विश्वसनीय अनुमानों का अभाव है। लघु एवं मध्यम वर्गीय उद्याोगों सवे सम्बन्धित आंकड़े भी अपर्याप्त हैं।

2. अल्प विकसित देशों में गैर–विमुद्रित खण्ड (non monetised sector) के कारण भी राष्ट्रीय आय की संगणना में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। जैसा कि विदित है, इन देशों में कृषि उत्पादन का अधिकांश भाग का या तो कृषक स्वंय उपभोग कर लेते हैं या गांवों में अन्य वस्तुओं एवं सेवाओं के साथ उसका विनिमय कर लेते हैं। इससे राष्ट्रीय आय की संगणना में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं।

3. अल्पविकसित देशों में अधिकांश छोटे उत्पादक अशिक्षित एवं अनपढ़ होते हैं। वे अपने उत्पादक कार्यों से सम्बन्धित सही सही लेखे रखने की स्थिति में नहीं होते। अतः वे अपने उत्पाद की मात्राा एवं उसके मूल्य के बारे में सही सही सूचना देने में असमर्थ रहते हैं। परिणामतः अर्थव्यवस्थाक ` विशालकाय खण्यण्डाों में आय अथवा उत्पादन का मूल्यांकन करते समय हमें अनिवार्य रूप में अनुमानों (guesswork) का आश्रय लेना पड़ता है।

4. अल्पविकसित देशों में लोगों में पेशेवर विशेषज्ञता (Occupational specialisation) का आभाव होता है। अनेक व्यक्ति अपनी आजीविका कमाने हेतु एक से अधिक धन्धे करते हैं। अतः उनकी आय के बारे में सूचनाये एकत्रिात करना कठिन हो जाता है।

6.8 राष्ट्रीय आय की गणना का महत्व

राष्ट्रीय आय की गणना का निम्नलिखित उपयोगितायें हैं :

1. लोगों के जीवन स्तर के बोर में ज्ञान राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आंकड़ाों से लोगों के रहन सहन के स्तर की अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि राष्ट्रीय आय की वृद्धि से प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि होने से देश के नागरिकों के जीवन स्तर में वृद्धि होती है।

2. आार्थिक नीति के निर्धारण में सहायक.इससे सरकार को अपनी आार्थिक नीति ठीक दशा में निर्धारित करने में सहायता मिलती है। प्रत्येक सरकार राष्ट्रीय कार्य के आंकड़ों के अनुसार देश की अर्थव्यवस्था का सच्चा चित्रा प्राप्त कर लेती है और तदनुसार ही अपनी साख, मुद्रा, निवेश, रोजगार एवं बजट सम्बन्धी नीति का निर्माण।

3. आार्थिक उन्नति का तुलनात्मक अध्ययन . इसकी सहायता से देश में हुई आार्थिक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। अन्य देशों से भी तुलना सम्भव हो पाती है।

4. आार्थिक नियोजन के लिये विशेष महत्व . इसी के आधार पर आार्थक योजनाओं का निर्माण होता है; क्यो कि राष्ट्रीय आय कितनी है ? कितने समय में कितनी वृद्धि हुई है ? क्या साधन है ? यह सब निश्चित करना पड़ता है।

5. देश के आार्थिक कल्याण का सूचककृप्रो0 मार्शल के अनुसार ''अन्य बातों के थितर रहने पर किसी देश की राष्ट्रीय आय जितनी अधिक होती है, उस देश का आर्थिक कल्याण भी उतना ही अधिक समझा जाता है।''

6. समाज के विभिन वर्गों में आय के वितरण का अनुमान ¾ राष्ट्रीय आय के आंकड़ों से समाज के विभिन्न वर्गों में आय के वितरण का भी ज्ञान हो जाता है, और उस प्रकार आय की असमानताओं को दूर करने के लिये आवश्यक केवल उठाये जा सकते हैं।

7. आय, व्यय और बचत का अनुमान ¾उसके द्वारा आय व्यय और बचत का अनुमान लगाया जा सकता है और उन्हें उचित अनुपात में रखने की दशा में प्रयत्न किये जा सकते हैं।

8. अर्थव्यवस्था के दोषों को दूर करने में सहायक - राष्ट्रीय आय के आंकड़े इस बात की जानकारी देते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था में कौन से दोष विद्यमान हैं जिनके कारण आार्थिक विकास नहीं हो या रहा है। इस ज्ञान के आधार पर इन दोषों को दूर करने के उपाय किये जा सकते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिये और उसे मापने की विधिया बताइये।

2. एक देश की अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय के महत्व की विवेचना कीजिये। राष्ट्रीय आय मापने की कौन–कौन सी विधियाँ हैं?

3. आर्थिक कल्याण की धारणा की विवेचना कीजिये। देश की राष्ट्रीय आय के साथ इसका क्या सम्बन्ध होता है?

4. कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP), विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP), राष्ट्रीय आय (NI), वैयक्तिक आय (PI) तथा उपभोग्य वैयक्तिक आय (DPI) के अर्थों एवं उपयोगों की विवेचना कीजिये। उनके परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या कीजिये।

5. राष्ट्रीय आय के मापन में किन–किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?